वात्सल्यरत्नाकर आचार्यश्री विमलसागरजी की पंचम पुण्यतिथि
के पावन अवसर पर

श्रीमद् देवनन्द्यपरनाम-पूज्यपादाचार्य विरचितम्

# समाधितंत्रम्

[ आचार्य प्रभाचन्द्र कृत-संस्कृत-टीका सहितम् ]

सम्पादक
पं० जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

अनुवादक
पं० परमानन्द शास्त्री

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद्

# श्रीमद् आचार्य पूज्यपाद देवनन्दि : एक परिचय

• डॉ० कमलेश कुमार जैन 'चौधरी'+

निर्ग्रन्थ परम्परामें ही नहीं, अपितु भारतीय परम्परामें जो लब्ध-प्रतिष्ठ शास्त्रकार हुए हैं, उनमें आचार्य पूज्यपाद देवनंदिका नाम प्रमुख रूपसे लिया जाता है। वस्तुतः 'पूज्यपाद' यह एक आदर और बहुमानको दर्शाने वाला शब्द है। क्योंकि अनेक शास्त्रकारोंने किसी अपने पूर्वाचार्यका नाम स्मरण करते समय या उनके वाक्योंको उद्धृत करते समय 'पूज्यपाद' शब्दका प्रयोग किया है। अतएव 'पूज्यपाद' यह एक उपाधि है, जो कि विद्वज्जगत्में देवनंदि पूज्यपाद स्वामीके लिए रूढ़ हो गया है। इनका मूल नाम देवनंदि ही है।

आचार्य देवनंदिके साहित्य सृजनको देखकर निःसन्देह यह कहा जा सकता है कि वे एक प्रतिभाशाली विद्वान् हैं, एक महान् कवि हैं, प्रसिद्ध वैयाकरण हैं, प्रखर दार्शनिक हैं और गहन अध्यात्मवेत्ता हैं। इनके द्वारा रचित साहित्यका निर्ग्रन्थ परम्पराके दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायोंमें समान रूपसे प्रभाव दिखाई देता है। उनके उत्तरवर्ती लगभग सभी साहित्यकारों एवं इतिहास मर्मज्ञों ने इनकी महत्ता, विद्वत्ता और बहुज्ञताको स्वीकार किया है। और अपनी श्रद्धा के पुष्प उनके चरणोंमें समर्पित किये हैं।

जिस प्रकार इन्होंने अपनी अनुपम रचनाओं द्वारा मोक्षमार्गका प्रकाशन किया है, उसी प्रकार शब्दशास्त्र ( व्याकरण ) पर भी अपनी कृतियाँ साहित्य जगत्को दी हैं। यह भी माना जाता है कि उन्होंने शरीरशास्त्र जैसे विषय पर भी अपनी लेखनी चलायी थी, दूसरे शब्दोंमें, वैद्यकशास्त्रका प्रणयन किया था। जिससे उनके लोकोपयोगी साहित्य निर्माण एवं लोक कल्याणकी भावनाका स्पष्ट संकेत मिलता है। कवि-के रूपमें उन्होंने अध्यात्म, आचार एवं नीतिका प्रतिपादन किया है।

आजके संघर्षमय एवं तनावपूर्ण जीवनमें उनके द्वारा लिखे गये 'समाधितंत्रम्' ( समाधितन्त्र ) और इष्टोपदेशम् ( इष्टोपदेश ) जैसे अध्यात्म-प्रधान अनुपम शास्त्र मानव मात्रको पथ प्रदर्शनका कार्य करते हैं विशेषतः समाधितंत्रमें देवनंदि पूज्यपादके योगीस्वरूपके दर्शन होते हैं। उनका यह यौगिक स्वरूप तीर्थंकर महावीरकी परम्परा-से सीधा जुड़ता है।

---

+ शोध-अध्येता—बी० एल० इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलाजी, दिल्ली

**जीवन परिचय**

पूज्यपाद देवनन्दि का जीवन परिचय चन्द्रय्य कविके 'पूज्यपादचरिते' और देवचन्द्रके 'राजावलिकथे' नामक ग्रन्थोंमें मिलता है। श्रवणबेलगोलाके शिलालेखोंमें भी इनके नामोंके सम्बन्धमें उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनका मूल नाम देवनंदि था, किन्तु बुद्धिकी महत्ताके कारण इन्हें जिनेन्द्र-बुद्धि कहा गया और देवों द्वारा पूजित होनेसे 'पूज्यपाद' कहलाये। इनके पिताका नाम माधवभट्ट था और माताका नाम श्रीदेवी बतलाया गया है। ये कर्नाटक के 'कोले' नामक ग्रामके निवासी थे और ब्राह्मण कुलमें जन्मे थे। बादमें उन्होंने दिगम्बरी दीक्षा धारण कर ली थी।

**समय**

पूज्यपादके देवनन्दि समयके सम्बन्धमें विशेष विवाद नहीं है। इनके नामका उल्लेख छठी शतीके मध्यकालसे प्राप्त होने लगता है। इन्होंने आचार्य उमास्वामी कृत 'तत्त्वार्थसूत्रम्' पर 'सर्वार्थसिद्धिः' नामक टीका लिखी है जो स्वतंत्र व्याख्या ग्रन्थ-सी प्रतीत होती है। और दिगम्बर परम्पराकी सम्भवतः प्रथम टीका है। भट्ट अकलंकदेवने अपने तत्त्वार्थ-वार्तिक' ( राजवार्तिक ) में सर्वार्थसिद्धिके अनेकों वाक्योंको वार्तिकका रूप दिया है। और शब्दानुशासन सम्बन्धी कथनकी पुष्टिके लिए इनके जैनेन्द्र-व्याकरणके सूत्रोंको प्रमाण रूपमें उपस्थित किया है। अतः पूज्य-पाद देवनन्दि अकलंकदेवके पूर्ववर्ती हैं। अनेक ऊहापोहोंके पश्चात् विद्वानों ने देवनन्दि पूज्यपादका समय ई० सन् की छठी शताब्दी सिद्ध किया है।

**साहित्य**

पूज्यपादकी देवनन्दि निम्नलिखित रचनाएँ उपलब्ध हैं—

१. जन्माभिषेक, २. दशभक्ति, ३. तत्त्वार्थवृत्ति ( सर्वार्थसिद्धि ), ४. समाधितंत्रम्, ५. इष्टोपदेश, ६. जैनेन्द्र-व्याकरणम्, ७. सिद्धिप्रिय-स्तोत्रम्।

**१. जन्माभिषेक—**

श्रवणबेलगोलाके अभिलेखोंमें पूज्यपादकी कृतियोंमें जन्माभिषेकका भी निर्देश आया है[1]। वर्तमानमें एक जन्माभिषेक छपा हुआ है। रचना प्रौढ़ और प्रवाहमय है। इसे पूज्यपाद देवनन्दि द्वारा विरचित होना चाहिए।

---

१. जैन शिलालेखसंग्रह, प्रथम भाग, अभिलेख संख्या ४०, पृ० ५५, पद्य–११

२. दशभक्ति—

काव्यकी दृष्टिसे सभी भक्तियाँ बहुत ही सरस और गम्भीर हैं। इन भक्तियोंके सम्बन्धमें टीकाकार पण्डित प्रभाचन्द्रने प्राकृत सिद्धिभक्तिके अन्तमें सूचना दी है कि संस्कृतकी सारी भक्तियाँ पूज्यपादकृत हैं और प्राकृत भाषाकी भक्तियाँ आचार्य कुन्दकुन्दकी बनायी हुई हैं।

३. तत्त्वार्थवृत्ति-(सर्वार्थसिद्धि)—

यह पूज्यपादकी महनीय कृति है। इस तत्त्वार्थवृत्तिको सर्वार्थसिद्धि भी कहा गया है। सर्वार्थसिद्धि उमास्वामीकृत तत्त्वार्थसूत्र पर लिखी गयी गद्यमय रचना है। यह मध्यम परिमाणकी विशद वृत्ति है। इसमें सूत्रानुसारी सिद्धान्तके प्रतिपादनके साथ-साथ दार्शनिक विवेचन भी है। तत्त्वार्थसूत्रकी वृत्ति होते हुए भी इस ग्रन्थमें अनेक मौलिक विशेषताएँ दिखाई देती हैं।

४. समाधितंत्र—

इसमें कुल १०५ श्लोक हैं। इसका दूसरा नाम समाधिशतक भी है। इसका विषय अध्यात्म है। ग्रन्थका मूल नाम समाधितंत्रम् है, इसकी सूचना स्वयं लेखकने इसके अन्तिम श्लोकमें दी है। वस्तुतः यह ग्रन्थ पूज्यपादकी स्वतंत्र रचना है।

५. इष्टोपदेश—

इसमें कुल ५१ श्लोक हैं। इसका विषय स्वरूप सम्बोधन है। इसकी शैली सरल और प्रवाहमय है। ग्रन्थका नाम इष्टोपदेश है जो आचार्य पूज्यपादने स्वयं ग्रन्थके अन्तिम पद्यमें बताया है। इस ग्रंथके अनेक पद्य कुन्दकुन्द कृत समयपाहुडके रूपान्तर या भावान्तर प्रतीत होते हैं। इस ग्रन्थके अध्ययनसे आत्म-शक्तिका विकास होता है। साधकके लिए आत्म-साधनामें इससे बहुत सहायता मिलती है।

६. जैनेन्द्रव्याकरणम्—

यह आचार्य पूज्यपादकी अन्यतम मौलिक कृति है। प्राचीन कालसे यह ग्रंथ इसी नामसे जाना जाता रहा है।

जैनेन्द्र व्याकरणके दो सूत्रपाठ उपलब्ध हैं—एकमें तीन हजार सूत्र हैं और दूसरेमें लगभग तीन हजार सात सौ। स्व० श्रद्धेय पंडित नाथूरामजी प्रेमीने यह निष्कर्ष निकाला है कि देवनन्दि या पूज्यपादका बनाया हुआ सूत्रपाठ वही है जिस पर अभयनन्दिने अपनी वृत्ति लिखी है।

यह पाँच अध्यायोंमें विभक्त है। सूत्रसंख्या लगभग ३००० है। इस व्याकरणकी विशेषता है—संज्ञा लाघव। पाणिनीय व्याकरणमें जिन संज्ञाओंके लिए कई अक्षरोंके संकेत कल्पित किये गये हैं उनके लिए इसमें लाघवसे काम लिया गया है।

७. **सिद्धप्रियस्तोत्रम्—**

इस स्तोत्रमें २६ पद्य हैं। जिनमें चौबीस तीर्थंकरोंकी स्तुति की गयी है। रचना प्रौढ़ और प्रवाहयुक्त है।

८. **जैनेन्द्र और शब्दावतार न्यास—**

एक शिलालेखमें इस बातका उल्लेख है कि पूज्यपादने एक तो अपने व्याकरण पर जैनेन्द्र नामक न्यास लिखा था और दूसरा पाणिनि व्याकरण पर 'शब्दावतार' नामक न्यास लिखा था। ये दोनों ग्रन्थ अभी तक उपलब्ध नहीं हैं।

९. **शान्त्यष्टकम्—**

इनके एक 'शान्त्यष्टक' ग्रन्थका उल्लेख मिलता है। एक शान्त्यष्टक क्रियाकलापमें भी संग्रहीत है। इस पर पं० प्रभाचन्द्रकी संस्कृत टीका है। परन्तु यह निर्णय करना कठिन है कि प्राप्त शान्त्यष्टक किस आचार्यका है।

१०. **सारसंग्रह—**

धवला टीकाके एक उल्लेखसे ज्ञात होता है कि पूज्यपादने एक 'सारसंग्रह' नामक ग्रन्थका प्रणयन किया था। वहाँ लिखा है—

'सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः–अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्त्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्य प्रयोगो नय इति।'

किसी चिकित्सा शास्त्रकी भी उन्होंने रचना की थी जो वैद्यक विषय पर अनुपम ग्रन्थ था। ज्ञानार्णवके एक श्लोकमें आचार्य शुभचन्द्रने इसका उल्लेख किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हैं पूज्यपाद देवनंदि एक महान् विद्वान् ही नहीं है, अपितु एक उत्कृष्ट संयमी साधक और योगी भी हैं। उनके द्वारा रचा गया साहित्य उनकी अमरगाथा गाता रहेगा। भारतीय वाङ्मयमें उनका यह महत्त्वपूर्ण अवदान है। उनका यह योगदान साहित्यिक दृष्टिसे ही नहीं है, आध्यात्मिक दृष्टिसे भी अत्यन्त उपयोगी है।

# विषयानुक्रमणिका


| विषय | श्लोक | पृष्ठ |
|---|---|---|
| सिद्धात्मा और सकलात्माको नमस्काररूप मंगलाचरण | १,२ | ३ |
| विषय तथा आधारको स्पष्ट करते हुए ग्रन्थ रचनेकी प्रतिज्ञा | ३ | ६ |
| आत्माके बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ऐसे तीन भेद और उनकी हेयोपादेयता | ४ | ७ |
| बहिरात्मादिका जुदा-जुदा लक्षण | ५ | ९ |
| परमात्माके वाचक कुछ नाम | ६ | १० |
| बहिरात्माके शरीरमें आत्मत्व बुद्धि होने का कारण | ७ | ११ |
| चतुर्गति-सम्बन्धी शरीरभेदसे जीवभेद की मान्यता | ८,९ | १२ |
| बहिरात्माकी अन्य शरीर-विषयक मान्यता | १० | १४ |
| शरीरमें आत्मत्व-बुद्धिका परिणाम | ११,१२ | १५-१६ |
| बहिरात्मा और अन्तरात्माका कर्तव्यभेद | १३ | १७ |
| शरीरमें आत्मत्वबुद्धिपर खेद | १४ | १८ |
| शरीरसे आत्मत्वबुद्धि छोड़ने और अन्तरात्मा होने की प्रेरणा | १५ | १८ |
| अन्तरात्माका अपनी पूर्व अवस्थापर खेदप्रकाश | १६ | १९ |
| आत्मज्ञानका उपाय | १७ | २१ |
| अन्तरंग और बाह्यवचन-प्रवृत्तिके त्यागका उपाय | १८ | २१ |
| अन्तर्विकल्पोंके त्यागका प्रकार | १९ | २२ |
| आत्माका निर्विकल्प स्वरूप | २० | २३ |
| आत्मज्ञानसे पूर्वकी और बादकी चेष्टाका विचार | २१,२२ | २४ |
| लिंग-संख्यादि विषयक भ्रमनिवारणात्मक विचार | २३ | २५ |
| आत्मस्वरूप-विचार | २४ | २६ |
| आत्मानुभवीका शत्रु-मित्र विचार | २५,२६ | २७-२८ |
| परमात्मपदकी प्राप्तिका उपाय | २७ | २९ |
| परमात्मपदकी भावनाका फल | २८ | ३० |
| भय और भयके स्थान | २९ | ३१ |
| आत्माकी प्राप्तिका उपाय | ३०,३१,३२ | ३१-३३ |
| आत्मज्ञानके बिना तपश्चरण व्यर्थ-मुक्ति नहीं हो सकती | ३३ | ३४ |
| आत्मज्ञानको तपश्चरणसे खेद नहीं होता | ३४ | ३५ |
| खेद करनेवाला आत्मज्ञानी नहीं-निश्चल प्राणी ही आत्मदर्शी होता है | ३५ | ३५ |
| आत्मतत्त्व और आत्मभ्रान्ति स्वरूप और उसमें त्याग-ग्रहण | ३६ | ३६ |

| विषय | श्लोक | पृष्ठ |
| --- | --- | --- |
| मनके विक्षिप्त तथा अविक्षिप्त होने का कारण | ३७ | ३७ |
| चित्तके विक्षिप्त-अविक्षिप्त होनेका वास्तविक फल | ३८ | ३८ |
| अपमानादि तथा रागद्वेषादिको दूर करनेका उपाय | ३९ | ३८ |
| राग और द्वेषके विषय तथा विपक्ष का प्रदर्शन | ४० | ३९ |
| भ्रमात्मक प्रेमके नष्ट होनेका फल | ४१ | ४० |
| तपसे बहिरात्मा क्या चाहता है और अन्तरात्मा क्या | ४२ | ४१ |
| बहिरात्मा और अन्तरात्मामें कर्म बंधन का कर्ता कौन | ४३ | ४१ |
| बहिरात्मा और अन्तरात्माका विचारभेद | ४४ | ४२ |
| अन्तरात्माकी देहादिमें अभेदरूपकी भ्रांति क्यों होती है | ४५ | ४३ |
| अन्तरात्मा उस भ्रान्तिको कैसे छोड़े | ४६ | ४४ |
| बहिरात्मा और अन्तरात्माके त्याग ग्रहण का स्पष्ट विवेचन | ४७ | ४५ |
| अन्तरात्माके अन्तरंग त्याग-ग्रहण का प्रकार | ४८ | ४६ |
| स्त्री-पुत्रादिके साथ वचनादि-व्यवहारमें किनको सुख प्रतीत होता है और किनको नहीं | ४९ | ४६ |
| अन्तरात्माकी भोजनादिके ग्रहणमें प्रवृत्ति हो सकती है | ५० | ४७ |
| अनासक्त अन्तरात्मा आत्मज्ञान को बुद्धिमें कैसे धारण करे | ५१ | ४८ |
| इन्द्रियोंको रोककर आत्मानुभव करने वाले को दुःख सुख कैसे होता है | ५२ | ४९ |
| आत्मस्वरूप की भावना किस तरह करनी चाहिये | ५३ | ५० |
| वचन और शरीरमें भ्रांत तथा अभ्रांत मनुष्यका व्यवहार | ५४ | ५१ |
| बाह्य विषयकी अनुपकारता और अज्ञानीकी आसक्ति | ५५ | ५२ |
| मिथ्यात्वके वश बहिरात्माकी कैसी दशा होती है | ५६ | ५२ |
| स्वशरीर और परशरीरको कैसे अवलोकन करना चाहिये | ५७ | ५३ |
| ज्ञानीजीव आत्मतत्त्वका स्वयं अनुभव कर मूढात्माओंको क्यों नहीं बताते, जिससे वे भी आत्मज्ञानी बनें | ५८,५९ | ५४-५५ |
| मूढात्माओंको आत्मबोध न होनेका कारण | ६० | ५६ |
| अन्तरात्माके शरीरादिके अलंकृत करनेमें उदासीनता | ६१ | ५७ |
| संसार कब तक रहता है और मुक्ति की प्राप्ति कब होती है | ६२ | ५७ |
| अन्तरात्माके शरीरके अनादिरूप होने पर आत्माको अनादि-रूप मानना | ६३,६४,६५,६६ | ५८-५९ |
| अन्तरात्माकी मुक्ति-योग्यता | ६७ | ६० |

| विषय | श्लोक | पृष्ठ |
|---|---|---|
| शरीरादिसे भिन्न आत्माको अनुभव करनेका फल | ६८ | ६१ |
| मूढ़जन किसको आत्मा मानते हैं | ६९ | ६२ |
| आत्मस्वरूपके जाननेके इच्छुकोंको शरीरसे भिन्न आत्मभावना करनेका उपदेश | ७० | ६३ |
| आत्माकी एकाग्र भावना का फल | ७१ | ६४ |
| चित्तकी स्थिरताके लिए लोकसंसर्गका त्याग | ७२ | ६५ |
| क्या मनुष्योंका संसर्ग छोड़कर जंगलमें निवास करना चाहिए | ७३ | ६५ |
| आत्मदर्शी और अनात्मदर्शी होनेका फल | ७४ | ६६ |
| वास्तवमें आत्मा ही आत्माका गुरु है | ७५ | ६७ |
| बहिरात्मा तथा अन्तरात्मा मरणके सन्निकट आने पर क्या करता है | ७६,७७ | ६८-६९ |
| व्यवहारमें अप्रमादवान् ही आत्मबोधको प्राप्त होता है, अन्य नहीं | ७८ | ६९ |
| जो आत्माके विषयमें जागता है वही मुक्तिको प्राप्त करता है | ७९ | ७० |
| भेद-विज्ञानी अन्तरात्माको यह जगत योगकी प्रारंभ और निष्पन्न अवस्थाओंमें कैसा प्रतीत होता है | ८० | ७१ |
| आत्माकी भिन्न भावनाके बिना भरपेट उपदेश सुनने-सुनानेसे मुक्ति नहीं होती | ८१ | ७२ |
| भेद-ज्ञानकी भावनामें प्रवृत्त हुए अन्तरात्माका कर्तव्य | ८२ | ७२ |
| अव्रतोंकी तरह व्रतोंका विकल्प भी त्याज्य है | ८३ | ७३ |
| व्रतोंके विकल्पको छोड़नेका क्रम | ८४ | ७४ |
| अन्तर्जल्पसे युक्त उत्प्रेक्षा-जाल दुःखका मूल कारण है, उसके नाशसे परम पदकी प्राप्ति और नाश करनेका क्रम | ८५,८६ | ७५ |
| व्रतविकल्पकी तरह लिंगका विकल्प भी मुक्ति का कारण नहीं | ८७ | ७६ |
| जातिका आग्रह भी मुक्तिका कारण नहीं है | ८८ | ७७ |
| ब्राह्मण आदि जाति-विशिष्ट मानव ही दीक्षित होकर मुक्ति पा सकता है ऐसा जिनके आगमानुबन्धी हठ है वे भी परमपदको प्राप्त नहीं हो सकते | ८९ | ७७ |
| मोही जीवोंके दृष्टि-विकारका परिणाम और दर्शन-व्यापारका विपर्यास | ९०,९१ | ७८-७९ |

| विषय | श्लोक | पृष्ठ |
|---|---|---|
| संयोगकी ऐसी अवस्थामें अन्तरात्मा क्या करता है | ९२ | ८० |
| बहिरात्मा और अन्तरात्माकी कौनसी दशा भ्रमरूप और कौन भ्रमरहित होती है | ९३ | ८० |
| देहात्मदृष्टिका सकलशास्त्रपरिज्ञान और जाग्रत रहना भी मुक्तिके लिए निष्फल है | ९४ | ८२ |
| ज्ञातात्माके सुप्तादि अवस्थाओंमें भी स्वरूप संवेदन क्योंकर बना रहता है | ९५ | ८३ |
| चित्त कहाँ पर अनासक्त होता है | ९६ | ८३ |
| भिन्नात्मस्वरूप ध्येयमें लीनताका फल | ९७ | ८४ |
| अभिन्नात्माकी उपासनाका फल | ९८ | ८५ |
| भिन्नाऽभिन्नस्वरूप आत्मभावनाका उपसंहार | ९९ | ८६ |
| आत्मतत्त्वके विषयमें चार्वाक और सांख्यमतकी मान्यताओंका निरसन | १०० | ८७ |
| मरणरूप विनाशके हो जानेपर उत्तरकालमें आत्माका अस्तित्व कैसे बन सकता है | १०१ | ८९ |
| अनादि-निधन आत्माकी मुक्तिके लिए दुर्द्धर तपश्चरण द्वारा कष्ट उठाना व्यर्थ नहीं, आवश्यक है | १०२ | ९० |
| शरीरसे आत्माके सर्वथा भिन्न होने पर आत्माकी गति-स्थितिसे शरीर की गतिस्थिति कैसे होती है | १०३ | ९१ |
| शरीर-यंत्रोंकी आत्मामें आरोपना-अनारोपना करके जड़-विवेकी जीव किस फलको प्राप्त होते हैं | १०४ | ९२ |
| ग्रन्थ का उपसंहार | १०५ | ९२ |
| अन्तिम मंगलकामना | | ९४ |

॥ ॐ ॥

श्रीमद्देवनन्द्यपरनामपूज्यपादस्वामिविरचित

# समाधितंत्रम्

## श्रीप्रभाचन्द्रविनिर्मितसंस्कृतटीका सहितम्

[ मंगलाचरण ]

सिद्धं जिनेन्द्रममलाऽप्रतिमप्रबोधम् निर्वाणमार्गममलं विबुधेन्द्रवन्द्यम् ।
संसारसागरसमुत्तरणप्रपोतं वक्ष्ये समाधिशतकं प्रणिपत्य वीरम् ॥ १ ॥

श्रीपूज्यपादस्वामी मुमुक्षूणां मोक्षोपायं मोक्षस्वरूपं चोपदर्शयितुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह—

**येनात्माऽबुद्ध्यतात्मैव परत्वेनैव चापरम् ।**
**अक्षयानन्तबोधाय तस्मै सिद्धात्मने नमः ॥ १ ॥**

**टीका**—अत्र पूर्वार्द्धेन मोक्षोपाय उत्तरार्द्धेन च मोक्षस्वरूपमुपदर्शितम् । **सिद्धात्मने** सिद्धपरमेष्ठिने सिद्धः सकलकर्मविप्रमुक्तः स चासावात्मा च **तस्मै नमः** । **येन** किं कृतं ? । **अबुद्ध्यत** ज्ञातः । कोऽसौ ? **आत्मा** कथं ? **आत्मैव** । अयमर्थः येन सिद्धात्मनाऽऽत्मैवाध्यात्मत्वेनाबुद्ध्यत न शरीरादिकं कर्मापादितसुरनरनारकतिर्यगादिजीवपर्यायादिकं वा । तथा **परत्वेनैव चापरं** अपरं च शरीरादिकं कर्मजनितमनुष्यादिजीवपर्यायादिकं वा परत्वेनैवात्मनो भेदेनैवाबुद्धयत् । तस्मै कथंभूताय ? **अक्षयानन्तबोधाय** अक्षयोऽविनश्वरोऽनन्तो देशकालानवच्छिन्नसमस्तार्थपरिच्छेदको वा बोधो यस्य तस्मै । एवंविधबोधस्य चानन्तदर्शनसुखवीर्यैरविनाभावित्वसामर्थ्यादनन्तचतुष्टयरूपायेति गम्यते । ननु चेष्टदेवताविशेषस्य पञ्चपरमेष्ठिरूपत्वात्तत्र सिद्धात्मन एव कस्माद् ग्रन्थकृता नमस्कारः कृत इति चेत् ग्रन्थस्य कर्तुर्व्याख्यातुः श्रोतुरनुष्ठातुश्च सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थत्वात् । यो हि यत्प्राप्त्यर्थी स तं नमस्करोति यथा धनुर्वेदप्राप्त्यर्थी धनुर्वेदविदं नमस्करोति । सिद्धस्वरूपप्राप्त्यर्थी च समाधिशतकशास्त्रस्य कर्ता व्याख्याता श्रोता तदर्थानुष्ठाता चात्मविशेषस्तस्मात्सिद्धात्मानं नमस्करोतीति । सिद्धशब्देनैव चार्हदादीनामपि ग्रहणम् । तेषामपि देशतः सिद्धस्वरूपोपेतत्वात् ॥ १ ॥

[ मंगलाचरण ]

सकल विभाव अभावकर, किया आत्म कल्यान।
परमानन्द-सुबोधमय, नमूँ सिद्ध भगवान ॥ १ ॥
आत्म सिद्धिके मार्गका, जिसमें सुभग विधान।
उस समाधियुत तंत्रका, करूँ सुगम व्याख्यान ॥ २ ॥

श्रीपूज्यपाद स्वामी मोक्षके इच्छुक भव्यजीवोंको मोक्षका उपाय और मोक्षके स्वरूपको दिखलानेकी इच्छासे शास्त्रकी निर्विघ्न परिसमाप्ति आदि फलकी इच्छा करते हुए इष्टदेवता विशेष श्रीसिद्ध परमेष्ठीको नमस्कार करते हैं।

**अन्वयार्थ**—( येन ) जिसके द्वारा ( आत्मा ) आत्मा ( आत्मा एव ) आत्मा रूपसे ही ( अबुद्धयत ) जाना गया है ( च ) और ( अपरं ) अन्यको—कर्मजनित मनुष्यादिपर्यायरूप पुद्गलको—( परत्वेन एव ) पररूपसे ही ( अबुद्धयत ) जाना गया है ( तस्मै ) उस ( अक्षयानन्तबोधाय ) अविनाशी अनन्तज्ञानस्वरूप ( सिद्धात्मने ) सिद्धात्माको ( नमः ) नमस्कार हो।

**भावार्थ**—श्रीपूज्यपादस्वामीने श्लोकके पूर्वार्द्धमें मोक्षका उपाय और उत्तरार्द्धमें मोक्षका स्वरूप बताया है तथा सिद्ध परमात्मारूप इष्टदेवताको नमस्कार किया है। यह जीव अनादिकालसे मोह-मदिराका पान कर आत्माके निज चैतन्य स्वरूपको भूल रहा है, अचेतन विनाशीक परपदार्थोंमें आत्मबुद्धि कर रहा है, तथा चिरकालीन मिथ्यात्वरूप विपरीताभिनिवेशके सम्बन्धसे उन परपदार्थोंको अपना हितकारक समझता है और वह आत्माके उपकारी ज्ञान वैराग्यादिक पदार्थोंको, जो कर्मबंधनके छुड़ानेमें निमित्तभूत हैं, दुःखदायी समझता है। जैसे पित्तज्वर वाले रोगीको मीठा दूध कडुवा मालूम होता है, ठीक उसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीवको आत्माका उपकारक मोक्षका उपाय भी विपरीत जान पड़ता है। संसारके समस्त जीव सुख चाहते हैं, और दुःखसे डरते हैं तथा उससे छूटनेका उपाय भी करते हैं, परंतु उस उपायके विपरीत होनेसे चतुर्गतिरूप संसारके दुःखसे उन्मुक्त नहीं हो पाते हैं। वास्तवमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप रत्नत्रयकी एकता ही मोक्षकी प्राप्तिका परम उपाय है। इस रत्नत्रयकी परमप्रकर्षतासे ही कर्मोंका दृढ़ बन्धन आत्मासे छूट जाता है और आत्मा अपने स्वरूपको प्राप्त कर लेता है। ग्रन्थकारने ऐसा ही आशय प्रकट किया है।

जब यह आत्मा सुगुरुके उपदेशसे या तत्त्वनिर्णयरूप संस्कारसे आत्माके स्वरूपको विपरीत बनाने वाले दर्शनमोहनोयकर्मका उपशमादि कर सम्यक्त्व प्राप्त करता है, उस समय आत्मामेंसे विपरीताभिनिवेशके सम्बन्धसे होने वाली अचेतनपरपदार्थोंमें आत्मकल्पनारूप बुद्धि दूर हो जाती है। तभी मोक्षोपयोगी प्रयोजनभूत जीवादि सप्ततत्त्वोंका यथार्थ श्रद्धान व परिज्ञान होता है, और परद्रव्योंसे उदासीन भावरूप चारित्र हो जाता है। इसलिये कर्मबन्धनसे छूटनेका अमोघ उपाय आत्माको आत्मरूप ही, तथा आत्मासे भिन्न कर्मजनित शरीरादि पर पदार्थोंको पररूप ही जानना या अनुभव करना है। पदार्थोंके यथार्थ श्रद्धान, ज्ञान और आचरणसे आत्मा कर्मोंके बन्धनसे छूट जाता है, यही मोक्षकी प्राप्तिका उपाय है।

ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्मोंसे रहित आत्माकी आत्यंतिक—अन्तमें होने वाली—अवस्थाका नाम मोक्ष है। आत्माको यह अवस्था अत्यन्त शुद्ध और स्वाभाविक होती है—रागादिक औपाधिक भावोंसे रहित है। अथवा यों कहिये कि जीवकी यह अवस्था नित्य, निरंजन, निर्विकार, निराकुल एवं अबाधित सुखको लिये हुए शुद्ध चिद्रूपमय अवस्था है, जो कि सम्यक्त्वादि अनंत गुणोंका समुदाय है। इस अवस्थाको लिये हुए श्रीसिद्धपरमात्मा चरम शरीरसे किंचित् ऊन लोकके अग्रभागमें निवास करते हैं।

ग्रन्थकर्ता श्रीपूज्यपाद स्वामीने अविनाशी अनन्तज्ञानवाले सिद्धपरमात्माको नमस्कार किया है। इससे मालूम होता है कि ग्रन्थकर्ताको शुद्धात्माके प्राप्त करनेकी उत्कट अभिलाषा थी। जो जिस गुणकी प्राप्तिका इच्छुक होता है वह उस गुणसे युक्त पुरुषको नमस्कार करता है। जैसे धनुर्विद्याके सीखनेका अभिलाषी धनुर्वेदीको नमस्कार करता है। वास्तवमें पूर्णता और कृतकृत्यताकी दृष्टिसे परमदेवपना सिद्धोंमें ही है। इसीसे उक्त श्लोकमें अक्षय-अनन्त-ज्ञानादि-स्वरूप सिद्ध परमात्माको सर्वप्रथम नमस्कार किया गया है।

अथोक्तप्रकारसिद्धस्वरूपस्य तत्प्राप्त्युपायस्य चोपदेष्टारं सकलात्मानमिष्ट-देवताविशेषं स्तोतुमाह—

**जयन्ति यस्यावदतोऽपि भारती विभूतयस्तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः।**
**शिवाय धात्रे सुगताय विष्णवे जिनाय तस्मै सकलात्मने नमः॥२॥**

टीका—यस्य भगवतो जयन्ति सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ते। काः? भारती-

विभूतयः भारत्याः वाण्याः विभूतयो बोधितसर्वात्महितत्वादिसम्पदः । कथंभूतस्यापि जयन्ति ? अवदतोऽपि ताल्वोष्ठपुटव्यापारेण वचनमनुच्चारयतोऽपि । उक्तं च—

> "यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पंदितोष्ठद्वयं,
> नो वांछाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम् ।
> शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,
> तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः ॥ १ ॥

अथवा भारती च विभूतयश्च छत्रत्रयादयः । पुनरपि कथंभूतस्य ? तीर्थकृतोऽप्यनीहितुः ईहा वाञ्छा मोहनीयकर्मकार्यं, भगवति च तत्कर्मणः प्रक्षयात्तस्या सद्भावानुपपत्तिरतोऽनीहितुरपि तत्करणेच्छारहितस्यापि, तीर्थकृतः संसारोत्तरणहेतुभूतत्वात्तीर्थमिव तीर्थमागमः तत्कृतवतः । किं नाम्ने तस्मै ? सकलात्मने शिवाय शिवं परमसौख्यं परमकल्याणं निर्वाणं चोच्यते तत्प्राप्ताय । धात्रे असिमषिकृष्यादिभि सन्मार्गोपदेशकत्वेन च सकललोकाभ्युद्धारकाय । सुगताय शोभनं गतं ज्ञानं यस्यासौ सुगतः, सुष्ठु वा अपुनरावर्त्यं गतिं गतः सम्पूर्णं वा अनन्तचतुष्टयं गतः प्राप्तः सुगतस्तस्मै । विष्णवे केवलज्ञानेनाशेषवस्तुव्यापकाय । जिनाय अनेकभवगहनप्रापणहेतून् कर्मारातीन् जयतीति जिनस्तस्मै । सकलात्मने सह कलया शरीरेण वर्तत इति सकलः स चासावात्मा च तस्मै नमः ॥ २ ॥

अब उक्त मोक्षस्वरूप और उसकी प्राप्तिके उपायका उपदेश करने वाले सकल परमात्माको—घातिकर्म रहित जीवन्मुक्त आत्माको—स्तुति करते हुए आचार्य कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यस्य ) जिस ( अनीहितुः अपि ) इच्छासे भी रहित ( तीर्थकृतः ) तीर्थंकरकी ( अवदतः अपि ) न बोलते हुए भी—तालु-ओष्ठ-आदिके द्वारा शब्दोंका उच्चारण न करते हुए भी ( भारती-विभूतयः ) वाणीरूपी विभूतियाँ—अथवा वाणी और छत्र त्रयादिक विभूतियाँ ( जयन्ति ) जयको प्राप्त होती हैं ( तस्मै ) उस ( शिवाय ) [1]शिवरूप-परम कल्याण अथवा परम सौख्यमय ( धात्रे ) विधाता अथवा ब्रह्मारूप—सन्मार्गके उपदेश द्वारा लोकके उद्धारक ( सुगताय ) सुगतरूप सद्बुद्धि एवं सद्गतिको प्राप्त ( विष्णवे ) विष्णुरूप—केवलज्ञानके द्वारा

---

1. शिवं परमकल्याणं निर्वाणं शान्तमक्षयं ।
   प्राप्तं मुक्तिपदं येन स शिवः परिकीर्तितः ॥ —आप्तस्वरूप

समस्त चराचर पदार्थोंमें व्याप्त होनेवाले[1] ( जिनाय ) जिनरूप—संसार-परिभ्रमणके कारणभूत कर्मशत्रुओंको जीतने वाले[2] ( सकलात्मने ) सकलात्माको सशरीर शुद्धात्मा अर्थात् जीवन्मुक्त अरहंत परमात्माको ( नमः ) नमस्कार हो।

**भावार्थ**—इस श्लोकमें आचार्य महोदयने जैनधर्मके अनुसार सकल परमात्मा श्रीअरहंत भगवान्का संक्षिप्त स्वरूप बतलाया है। अरहंत परमात्माका शरीर परमौदारिक है, दिव्य है, ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अंतराय इन चार घातियाकर्मोंके विनाशसे उन्हें अनन्त चतुष्टयरूप अंतरंग विभूतियाँ प्राप्त हैं, तथा समवसरणादि बाह्य विभूतियाँ भी प्राप्त हैं, परन्तु वे उन बाह्य विभूतियोंसे अलिप्त रहते हैं। मोहनीयकर्मका अभाव हो जानेसे इच्छाएँ अवशिष्ट नहीं रहतीं और इसलिए समवसरणमें बिना किसी इच्छाके तालु-ओष्ठ-आदिके व्यापारसे रहित अरहंत भगवान्की भव्य जीवोंका हित करनेवाली धर्मदेशना हुआ करती है। समवसरण स्तोत्रमें भी कहा है कि—

'दुःखरहित सर्वज्ञकी वह अपूर्ववाणी हमारी रक्षा करे जो सबके लिये हित रूप है, वर्णरहित ( निरक्षरी ) है—होठोंका हलन-चलन व्यापार जिसमें नहीं होता, जो किसी प्रकारकी वांछाको लिये हुए नहीं है, न किसी दोषसे मलिन है, जिसके उच्चारणमें श्वासका रुकना नहीं होता और जिसे क्रोधादिविनिर्मुक्तों—साधुसन्तोंके साथ सकर्ण पशुओंने भी सुना है।'

इस श्लोककी टीकामें सकलपरमात्मा श्रीअरहंतके विशेषणोंका खुलासा किया गया है। और उसके द्वारा यह सूचित किया गया है कि घातिया कर्मरूपी शत्रुओंको जीतनेवाले, रागादि अष्टादश दोषोंसे रहित, परमवीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी अरहंत ही सच्चे शिव हैं, महादेव हैं, विधाता हैं, विष्णु हैं, सुगत हैं—अन्यमतावलम्बियोंने शिवादिका जैसा स्वरूप बताया है उससे वे वास्तविक शिव या अरहंत नहीं हो सकते हैं; क्योंकि उस स्वरूपानुसार उनके राग, द्वेष और मोहादिक दोषोंका सद्भाव पाया जाता है ॥ २ ॥

---

१. विश्वं हि द्रव्य पर्यायं विश्वं त्रैलोक्यगोचरम् ।
व्याप्तं ज्ञानत्विषा येन स विष्णुर्व्यापको जगत् ॥ ३ ॥

२. रागद्वेषादयो येन जिताः कर्म महाभटाः ।
कालचक्रविनिर्मुक्तः स जिनः परिकीर्तितः ॥ २१ ॥ —आप्तस्वरूप

ननु—निष्कलेतररूपमात्मानं नत्वा भवान् किं करिष्यतीत्याह—

**श्रुतेन लिंगेन यथात्मशक्ति समाहितान्तः करणेन सम्यक् ।**
**समीक्ष्य कैवल्यसुखस्पृहाणां विविक्तमात्मानमथाभिधास्ये ॥३॥**

**टीका—अथ** इष्टदेवतानमस्कारकरणानन्तरं । **अभिधास्ये** कथयिष्ये । कं ? **विविक्तमात्मानं** कर्ममलरहितं जीवस्वरूपं । कथमभिधास्ये ? **यथात्मशक्ति** आत्मशक्तेरनतिक्रमेण । किं कृत्वा ? **समीक्ष्य** तथाभूतमात्मानं सम्यग्ज्ञात्वा । केन ? **श्रुतेन**—

"एगो मे सासओ आदा णाणदंसणलक्खणो ।
सेसा मे बाहिरा भावा सव्वे संजोगलक्खणा" ॥१॥

'इत्याद्यागमेन । तथा **लिंगेन** हेतुना । तथाहि—शरीरादिरात्मभिन्नोभिन्नलक्षणलक्षितत्वात् । ययोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्वं तयोर्भेदो यथा जलानलयोः, भिन्नलक्षणलक्षितत्वं चात्मशरीरयोरिति । न चानयोर्भिन्नलक्षणलक्षितत्वमप्रसिद्धम् । आत्मनः उपयोगस्वरूपोपलक्षितत्वात्—शरीरादेस्तद्विपरीतत्वात् । **समाहितान्तःकरणेन** समाहितमेकाग्रीभूतं तच्च तदन्तः करणं च मनस्तेन । **सम्यक्—समीक्ष्य** सम्यग्ज्ञात्वा अनुभूयेत्यर्थः । केषां तथाभूतमात्मानमभिधास्ये ? **कैवल्यसुखस्पृहाणां** कैवल्ये सकलकर्मरहितत्वे सति सुखं तत्र स्पृहा अभिलाषो येषां, कैवल्ये विषयाप्रभवे वा सुखे; कैवल्यसुखयोः स्पृहा येषाम् ॥३॥

अब ग्रंथकार ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषयको बतलाते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अथ ) परमात्माको नमस्कार करनेके अनंतर [ अहं ] मैं पूज्यपाद आचार्य ( विविक्तं आत्मानं ) कर्ममल रहित आत्माके शुद्धस्वरूपको ( श्रुतेन ) शास्त्रके द्वारा ( लिंगेन ) अनुमान व हेतुके द्वारा ( समाहितान्तःकरणेन ) एकाग्र मनके द्वारा ( सम्यक्समीक्ष्य ) अच्छी तरह अनुभव करके ( कैवल्य-सुखस्पृहाणां ) कैवल्यपद-विषयक अथवा निर्मल अतीन्द्रियसुखकी इच्छा रखने वालोंके लिये ( यथात्मशक्ति ) अपनी शक्तिके अनुसार ( अभिधास्ये ) कहूँगा ।

**भावार्थ**—यहाँ पर उस शुद्धात्मस्वरूपके प्रतिपादनकी प्रतिज्ञा की गई है जिसे ग्रंथकारने शास्त्रज्ञानसे, अनुमानसे और अपने चित्तको एकाग्रतासे भले प्रकार जाना तथा अनुभव किया है । साथ ही, यह भी बतलाया है कि यह ग्रन्थ उन भव्य पुरुषोंको लक्ष्य करके लिखा जाता है जिन्हें कर्मोंके क्षयसे उत्पन्न होने वाले बाधा-रहित, निर्मल, अतीन्द्रिय सुखको प्राप्त करनेकी इच्छा है । शास्त्रसे—समयसारादि जैनागम ग्रन्थों-

से मालूम होता है कि आत्मा एक है, नित्य है, ज्ञानदर्शन-लक्षणवाला है ( ज्ञाता-द्रष्टा है ) और शेष संयोग-लक्षण वाले समस्त पदार्थ मेरी आत्मासे बाह्य हैं—मैं उनका नहीं हूँ और न वे मेरे हैं। अनुमानसे जाना जाता है कि शरीर और आत्मा जुदे-जुदे हैं; क्योंकि इन दोनोंका लक्षण भी भिन्न-भिन्न है। जिनका लक्षण भिन्न-भिन्न होता है वे सब भिन्न होते हैं, जैसे जल और आग। इस तरह आगम और अनुमानके सहयोगके साथ चित्तकी एकाग्रतापूर्वक आत्माका जो साक्षात् अनुभव होता है वह तीसरी चीज है। इन तीनोंके आधारपर ही इस ग्रन्थके रचनेकी प्रतिज्ञा की गई है ॥ ३ ॥

कतिभेदः पुनरात्मा भवति ? येन विविक्तमात्मानमिति विशेष उच्यते। तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा त्यागः कर्तव्य इत्याशंक्याह—

**[1]बहिरन्तः परश्चेति त्रिधात्मा सर्वदेहिषु।**
**उपेयात्तत्र परमं मध्योपायाद्बहिस्त्यजेत् ॥४॥**

**टीका**—**बहिर्**बहिरात्मा, **अन्तः** अन्तरात्मा, **परश्च** परमात्मा इति **त्रिधा आत्मा** त्रिप्रकार आत्मा। क्व ? **सर्वदेहिषु** सकलप्राणिषु। ननु अभव्येषु बहिरात्मन एव सम्भवात् कथं सर्वदेहिषु त्रिधात्मा स्यात् ? इत्यप्यनुपपन्नं तत्रापि द्रव्यरूपतया त्रिधात्मसद्भावोपपत्तेः कथं पुनस्तत्र पंचज्ञानावरणान्युपपद्यन्ते ? केवलज्ञानाद्याविर्भावसामग्री हि तत्र कदापि न भविष्यतीत्यभव्यत्वं, न पुनः तद्योग्यद्रव्यस्याभावादिति। भव्यराश्यपेक्षया वा सर्वदेहिग्रहणं। आसन्नदूरदूरतरभव्येषु अभव्यसमान भव्येषु च सर्वेषु त्रिधाऽऽत्मा विद्यत इति। तर्हि सर्वज्ञे परमात्मन एव सद्भावाद् बहिरन्तरात्मनोरभावात्त्रिधात्मनो विरोध इत्यप्ययुक्तम्। भूतपूर्वप्रज्ञापननयापेक्षया तत्र तद्विरोधासिद्धेः घृतघटवत्। यो हि सर्वज्ञावस्थायां परमात्मासम्पन्नः स पूर्वं बहिरात्मा अन्तरात्मा चासीदिति। घृतघटवदन्तरात्मनोऽपि बहिरात्मत्वं परमात्मत्वं च भूतभाविप्रज्ञापननयापेक्षया द्रष्टव्यम्। तत्र कुतः कस्योपादानं कस्य वा त्यागः कर्तव्य इत्याह—**उपेयादिति**। **तत्र** तेषु त्रिधात्मसु मध्ये उपेयात् स्वीकुर्यात् **परमं** परमात्मानं। कस्मात् ? **मध्योपायात्** मध्योऽन्तरात्मा स एवोपायस्तस्मात् तथा **बहिः** बहिरात्मानं मध्योपायादेव **त्यजेत्** ॥४॥

आत्मा कितने तरहका होता है, जिससे शुद्धात्मा ऐसा विशेष कहा

---

1. तिपयारो सो अप्पा परमंतरबाहिरो हु देहीणं।
तत्थ परो झाइज्जइ अंतोवाएण चयहि बहिरप्पा ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः।

जाता है, और उन आत्माके भेदोंमें किसका ग्रहण और किसका त्याग करना चाहिये ? ऐसी आशंका दूर करनेके लिये आत्माके भेदोंका कथन करते हैं—

**अन्वयार्थ**—( सर्वदेहिषु ) सर्वप्राणियोंमें (बहिः) बहिरात्मा ( अन्तः ) अन्तरात्मा ( च परः ) और परमात्मा ( इति ) इस तरह ( त्रिधा ) तीन प्रकारका ( आत्मा ) आत्मा ( अस्ति ) है। ( तत्र ) आत्माके उन तीन भेदोंमेंसे ( मध्योपायात् ) अन्तरात्माके उपायद्वारा ( परमं ) परमात्माको ( उपेयात् ) अंगीकार करे—अपनावे और ( बहिः ) बहिरात्माको ( त्यजेत् ) छोड़े।

**भावार्थ**—आत्माकी तीन अवस्थाएँ होती हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। उनमेंसे जब तक प्रत्येक संसारी जीवकी अचेतन पुद्गल-पिंडरूप शरीरादि विनाशीक पदार्थोंमें आत्म-बुद्धि रहती है, या आत्मा जबतक मिथ्यात्व-अवस्थामें रहता है। तब तक वह 'बहिरात्मा' कहलाता है। शरीरादिमें आत्मबुद्धिका त्याग एवं मिथ्यात्वका विनाश होनेपर जब आत्मा सम्यग्दृष्टि हो जाता है तब उसे 'अन्तरात्मा' कहते हैं। उसके तीन भेद हैं—उत्तम अन्तरात्मा, मध्यम अन्तरात्मा और जघन्य अन्तरात्मा। अन्तरंग-बहिरंग-परिग्रहका त्याग करने वाले, विषय-कषायोंको जीतनेवाले और शुद्ध उपयोगमें लीन होने वाले तत्त्वज्ञानी योगीश्वर 'उत्तम अन्तरात्मा' कहलाते हैं, देशव्रतका पालन करनेवाले गृहस्थ तथा छट्ठे गुणस्थानवर्ती मुनि 'मध्यम अन्तरात्मा' कहे जाते हैं और तत्त्वश्रद्धाके साथ व्रतोंको न रखने वाले अविरतसम्यग्दृष्टि जीव 'जघन्य अन्तरात्मा' रूपसे निर्दिष्ट हैं।

आत्मगुणोंके घातक ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय नामक चार घातियाकर्मोंका नाश करके आत्माकी अनन्त चतुष्टयरूप शक्तियोंको पूर्ण विकसित करनेवाले 'परमात्मा' कहलाते हैं। अथवा आत्माकी परम विशुद्ध अवस्थाको 'परमात्मा' कहते हैं। यदि कोई कहे कि अभव्योंमें तो एक बहिरात्मावस्था ही संभव है, फिर सर्व प्राणियोंमें आत्माके तीन भेद कैसे बन सकते हैं ? यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि अभव्य जीवोंमें भी अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था शक्तिरूपसे जरूर है, परन्तु उक्त दोनों अवस्थाओंके व्यक्त होनेकी उनमें योग्यता नहीं है। यदि ऐसा न माना जाय तो अभव्योंमें केवल ज्ञानावरणीय कर्मका बन्ध व्यर्थ ठहरेगा। इसलिये चाहे निकट भव्य हो, दूरान्दूर भव्य

हो अथवा अभव्य हो, सबमें तीन प्रकारका आत्मा मौजूद है। सर्वज्ञमें भी भूतप्रज्ञापननयकी अपेक्षा घृत-घटके समान बहिरात्मावस्था और अन्तरात्मावस्था सिद्ध है।

आत्माकी इन तीन अवस्थाओंमेंसे जिनकी परद्रव्यमें आत्मबुद्धिरूप बहिरात्मावस्था हो रही है उनको प्रथम ही सम्यक्त्व प्राप्त कर उस विपरीताभिनिवेशमय बहिरात्मावस्थाको छोड़ना चाहिये और मोक्षमार्गकी साधक अन्तरात्मावस्थामें स्थिर होकर आत्माकी स्वाभाविक वीतरागमयी परमात्मावस्थाको व्यक्त करनेका उपाय करना चाहिये ॥ ४ ॥

तत्र बहिरन्तः परमात्मनां प्रत्येकं लक्षणमाह—

> [1]बहिरात्मा शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिरान्तरः।
> चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः परमात्माऽतिनिर्मलः ॥५॥

टीका—शरीरादौ शरीरे आदिशब्दाद्वाङ्मनसोश्च ग्रहणं तत्र जाता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य स बहिरात्मा भवति। आन्तरः अन्तर्भवः। 'तत्र भव' इत्यणन्तादेर्भमात्रे टिलोपमित्यस्याऽनित्यत्वं येषां च विरोधः शाश्वतिक इति निर्देशात्, "अन्तरे वा भव आन्तरोऽन्तरात्मा। स कथं भूतो भवति? चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः चित्तं च विकल्पो दोषाश्च रागादयः, आत्मा च शुद्धं चेतनाद्रव्यं तेषु विगता विनष्टा भ्रान्तिर्यस्य। चित्तं चित्तत्वेन बुध्यते दोषाश्च दोषत्वेन आत्मा आत्मत्वेनेत्यर्थः। चित्तदोषेषु वा विगता आत्मेति भ्रान्तिर्यस्य। परमात्मा भवति, किं विशिष्टः? अतिनिर्मलः प्रक्षीणाशेषकर्म मलः ॥५॥

अब बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मामेंसे प्रत्येकका लक्षण कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—(शरीरादौ जातात्मभ्रान्तिः बहिरात्मा) शरीरादिकमें आत्मभ्रान्तिको धरनेवाला—उन्हें भ्रमसे आत्मा समझने वाला—बहिरात्मा है। (चित्तदोषात्मविभ्रान्तिः आन्तरः) चित्तके, रागद्वेषादिक दोषोंके और आत्माके विषयमें अभ्रान्त रहनेवाला—उनका ठीक विवेक रखनेवाला अर्थात् चित्तको चित्तरूपसे, दोषोंको दोषरूपसे और आत्माको आत्मरूपसे अनुभव करनेवाला—अन्तरात्मा कहलाता है। (अति-

---

१. अक्खाणि बाहिरप्पा अंतरप्पा हु अप्प-संकप्पो।
कम्म-कलंक-विमुक्को परमप्पा भण्णए देवो ॥५॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः

निर्मलः परमात्मा ) सर्व कर्ममलसे रहित जो अत्यन्त निर्मल है वह परमात्मा है।

**भावार्थ**—मोक्षमार्गमें प्रयोजनभूत तत्त्वोंका जैसा स्वरूप जिनेन्द्र देवने बताया है उसको वैसा न मानने वाला बहिरात्मा अथवा मिथ्यादृष्टि कहलाता है। दर्शनमोहके उदयसे जीवमें अजीवकी कल्पना और अजीवमें जीवकी कल्पना होती है, दुखदाई रागद्वेषादिक विभाव भावोंको सुखदाई समझ लिया जाता है, आत्माके हितकारी ज्ञान वैराग्यादि पदार्थोंको अहितकारी जानकर उनमें अरुचि अथवा द्वेषरूप प्रवृत्ति होती है और कर्मबंधके शुभाशुभ फलोंमें राग, द्वेष होनेसे उन्हें अच्छे बुरे मान लिया जाता है। साथ ही, इच्छाएँ बलवती होती जाती हैं, विषयोंकी चाहरूप दावानलमें जीव दिन-रात जलता रहता है। इसीलिये आत्मशक्तिको खो देता है और आकुलता रहित मोक्ष सुखके खोजने अथवा प्राप्त करनेका कोई प्रयत्न नहीं करता। इस प्रकार जातितत्त्व और पर्यायतत्त्वोंका यथार्थ परिज्ञान न रखनेवाला जीव मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा है। चैतन्य लक्षणवाला जीव है, इससे विपरीत लक्षणवाला अजीव है, आत्माका स्वभाव ज्ञाता-द्रष्टा है, अमूर्तिक है और ये शरीरादिक परद्रव्य हैं, पुद्गलके पिंड हैं, विनाशीक हैं, जड़ हैं, मेरे नहीं हैं और न मैं इनका हूँ, ऐसा भेदविज्ञान करनेवाला सम्यग्दृष्टि 'अन्तरात्मा' कहलाता है। अत्यन्त विशुद्ध आत्माको 'परमात्मा' कहते हैं, परमात्माके दो भेद हैं—एक सकलपरमात्मा दूसरा निष्कलपरमात्मा। जो चार घातिया कर्ममलसे रहित होकर अनन्तज्ञानादि चतुष्टयरूप अन्तरंगलक्ष्मी और समवसरणादिरूप बाह्यलक्ष्मीको प्राप्त हुए हैं उन सर्वज्ञवीतराग परमहितोपदेशी आत्माओंको 'सकलपरमात्मा' या 'अरहन्त' कहते हैं। और जिन्होंने सम्पूर्ण कर्ममलोंका नाश कर दिया है, जो लोकके अग्रभागमें स्थित हैं, निजानन्द निर्भर-निजरसका पान किया करते हैं तथा अनन्तकाल तक आत्मोत्थ स्वाधीन निराकुल सुखका अनुभव करते हैं उन कृतकृत्योंको 'निष्कलपरमात्मा' या 'सिद्ध' कहते हैं ॥ ५ ॥

तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह—

**निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः ।**
**परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः ॥६॥**

**टीका**—**निर्मलः** कर्ममलरहितः । **केवलः** शरीरादीनां सम्बन्धरहितः । **शुद्धः** द्रव्यभावकर्मणामभावात् परमविशुद्धिसमन्वितः । **विविक्तः** शरीरकर्मादिभिर-

संस्पृष्टः । **प्रभुरिन्द्रादिनां** स्वामी । **अव्ययो** लब्धानंतचतुष्टयस्वरूपादप्रच्युतः । **परमेष्ठी**–परमे इन्द्रादिवंद्ये पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी, स्थानशीलः । **परात्मा** संसारिजीवेभ्य उत्कृष्ट आत्मा । **इति** शब्दः प्रकारार्थे एवं प्रकारा ये शब्दास्ते परमात्मनो वाचकाः परमात्मेत्यादिना तानेव दर्शयति । **परमात्मा** सकल प्राणिभ्य उत्तम आत्मा । **ईश्वरः** इन्द्राद्यसम्भविना अंतरङ्गबहिरङ्गेण परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्नः **जिनः** सकलकर्मोन्मूलकः ॥६॥

अब परमात्माके वाचक अन्य प्रसिद्ध नाम बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( निर्मलः ) निर्मल—कर्मरूपीमलसे रहित ( केवलः ) केवलशरीरादिपरद्रव्यके सम्बन्धसे रहित ( शुद्धः ) शुद्ध—द्रव्य और भाव-कर्मसे रहित होकर परमविशुद्धिको प्राप्त ( विविक्तः ) विविक्त—शरीर और कर्मादिके स्पर्शसे रहित ( प्रभुः ) प्रभु—इन्द्रादिकोंका स्वामी ( अव्ययः ) अव्यय—अपने अनन्त चतुष्टयरूप स्वभावसे च्युत न होने वाला ( परमेष्ठी ) परमपदमें स्थित ( परात्मा ) परमात्मा—संसारी जीवोंसे उत्कृष्ट आत्मा ( ईश्वरः ) ईश्वर—अन्य जीवोंमें असम्भव ऐसी विभूतिका धारक और ( जिनः ) जिन—ज्ञानावरणादि सम्पूर्ण कर्म शत्रुओंको जीतनेवाला ( इति परमात्मा ) ये परमात्माके नाम हैं।

**भावार्थ**—आत्मा अनंत गुणोंका पिण्ड है। परमात्मामें उन सब गुणोंके पूर्ण विकसित होनेसे परमात्माके उन गुणोंकी अपेक्षा अनन्त नाम हैं। इसीसे परमात्माको अजर, अमर, अक्षय, अरोग, अभय, अविकार, अज, अकलंक, अशंक, निरंजन, सर्वज्ञ, वीतराग, परमज्योति, बुद्ध, आनन्दकन्द, शास्ता और विधाता जैसे नामोंसे भी उल्लेखित किया जाता है ॥ ६ ॥

इदानीं बहिरात्मनो देहस्यात्मत्वेनाध्यवसाये कारणमुपदर्शयन्नाह—

**[1]बहिरात्मेन्द्रियद्वारैरात्मज्ञानपराङ्मुखः ।**
**स्फुरितः स्वात्मनो [2]देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति ॥७॥**

**टीका**—**इन्द्रियद्वारैरिन्द्रियमुखैः** कृत्वा **स्फुरितो** बहिरर्थग्रहणे व्यापृतः सन् **बहिरात्मा** मूढात्मा । **आत्मज्ञानपराङ्मुखो** जीवस्वरूपज्ञानाद्बहिर्भूतो भवति ।

---

१. बहिरत्थे फुरियमणो इंदियदारेण णियसरूवचुओ ।
णियदेहं अप्पाणं अज्झवसदि मूढदिट्ठीओ ॥८॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

२. "स्फुरितस्वात्मनोदेह" इत्यपि पाठान्तरम् ।

तथाभूतश्च सन्नसौ किं करोति ? स्वात्मनो देहमात्मत्वेनाध्यवस्यति आत्मीय शरीरमेवाहमिति प्रतिपद्यते ।।७।।

अब यह दिखलाते हैं कि बहिरात्माके देहमें आत्मतत्त्व बुद्धि होनेका क्या कारण है—

**अन्वयार्थ**—[ यतः ] चूँकि ( बहिरात्मा ) बहिरात्मा ( इन्द्रियद्वारैः ) इन्द्रियद्वारोंसे ( स्फुरितः ) बाह्य पदार्थोंके ग्रहण करनेमें प्रवृत्त हुआ ( आत्मज्ञानपराङ्मुखः ) आत्मज्ञानसे पराङ्मुख [ भवति, ततः ] होता है इसलिये ( स्वात्मनः देहं ) अपने शरीरको ( आत्मत्वेन अध्यवस्यति ) आत्मरूपसे निश्चय करता है—अपना आत्मा समझता है ?

**भावार्थ**—मोहके उदयसे बुद्धिका विपरीत परिणमन होता है। इसी कारण बहिरात्मा इन्द्रियोंके द्वारा ग्रहणमें आने वाले बाह्य मूर्तिक पदार्थोंको ही अपने मानता है। उसे अभ्यन्तर आत्मतत्त्वका कुछ भी ज्ञान या प्रतिभास नहीं होता है। जिस प्रकार धतूरेका पान करने वाले पुरुषको सब पदार्थ पीले मालूम पड़ते हैं, ठीक उसी प्रकार मोहके उदयसे उन्मत्त हुए जीवोंको अचेतन शरीरादि पर पदार्थ भी चेतन और स्वकीय जान पड़ते हैं। इसी दृष्टिविकारसे आत्माको अपने वास्तविक स्वरूपका परिज्ञान नहीं हो पाता और इसलिये यह जीवात्मा शरीरकी उत्पत्तिसे अपनी उत्पत्ति और शरीरके विनाशसे अपना विनाश समझता है ॥ ७ ॥

तच्च प्रतिपद्यमानो मनुष्यादि चतुर्गतिसम्बन्धिशरीराभेदेन प्रतिपद्यते तत्र—

**[1]नरदेहस्थमात्मानमविद्वान् मन्यते नरम् ।**
**तिर्यञ्चं तिर्यगङ्गस्थं सुराङ्गस्थं सुरं तथा ॥८॥**
**नारकं नारकाङ्गस्थं न स्वयं तत्त्वतस्तथा ।**
**अनंतानंतधीशक्तिः स्वसंवेद्योऽचलस्थितिः ॥९॥**

**टीका**—नरस्य देहो नरदेहः तत्र तिष्ठतीति नरदेहस्थस्तमात्मानं नरं मन्यते। कोऽसौ ? अविद्वान् बहिरात्मा। तिर्यंचमात्मानं मन्यते। कथंभूतं ? तिर्यगङ्गस्थं

---

१. "सुरं त्रिदशपर्यायैर्नृपर्यायैस्तथा नरम् ।
तिर्यंचं च तदङ्गे स्वं नारकाङ्गे च नारकम् ॥ १२-१३ ॥
वेत्त्यविद्यापरिश्रान्तो मूढस्तन्न पुनस्तथा ।
किन्त्वमूर्तं स्वसंवेद्यं तद्रूपं परिकीर्तितम् ॥ -१४ ॥"
—ज्ञानार्णवे, शुभचंद्रः ।

तिरश्चामङ्गं तिर्यगङ्गं तत्र तिष्ठतीति तिर्यगङ्गस्थस्तं । **सुराङ्गस्थं** आत्मानं **सुरं तथा** मन्यते ॥८॥ **नारकमात्मानं** मन्यते । किंविशिष्टं ? **नारकाङ्गस्थं । न स्वयं तथा** नरादिरूप आत्मा स्वयं कर्मोपाधिमन्तरेण न भवति । कथं ? **तत्त्वतः** परमार्थतो न भवति । व्यवहारेण तु यदा भवति तदा भवतु । कर्मोपाधिकृता हि जीवस्य मनुष्यादिपर्यायास्तन्निवृत्तौ निवर्तमानत्वात् न पुनर्वास्तवा इत्यर्थः । परमार्थतस्तर्हि कीदृशोऽसावित्याह—**अनन्तानन्तधीशक्तिः** धीश्च शक्तिश्च धीशक्ती अनन्तानन्ते धी शक्ती यस्य । तथाभूतोऽसौ कुतः परिच्छेद्य इत्याह—**स्वसंवेद्यो** ''निरुपाधिकं हि रूपं वस्तुनः स्वभावोऽभिधीयते'' । कर्मापाये चानन्तानन्तधीशक्तिपरिणत आत्मा स्वसंवेदनेन वेद्यः । तद्विपरीतपरिणत्यनुभवस्य संसारावस्थायां कर्मोपाधिनिमित्तत्वात् । अस्तु नाम तथा स्वसंवेद्यः कियत्कालमसौ न तु सर्वदा पश्चात् तद्रूपविनाशादित्याह—**अचलस्थितिः** अनंतानंतधीशक्तिस्वभावेनाचला स्थितिर्यस्य सः । यैः पुनर्योगसांख्यैर्मुक्तौ तत्प्रच्युतिरात्मनोऽभ्युपगता ते प्रमेयकमलमार्तण्डे न्यायकुमुदचन्द्रे च मोक्षविचारे विस्तरतः प्रत्याख्याताः ॥९॥

इसी बातको स्पष्ट करते हुए मनुष्यादि चतुर्गतिसम्बन्धी शरीर भेदसे जीवभेदकी मान्यताको बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अविद्वान् ) मूढ बहिरात्मा ( नरदेहस्थं ) मनुष्यदेहमें स्थित ( आत्मानं ) आत्माको ( नरम् ) मनुष्य, ( तिर्यगङ्गस्थं ) तिर्यंच शरीरमें स्थित आत्माको ( तिर्यंचं ) तिर्यंच ( सुराङ्गस्थं ) देवशरीरमें स्थित आत्माको ( सुरं ) देव ( तथा ) और ( नारकाङ्गस्थं ) नारकशरीरमें स्थित आत्माको ( नारकं ) नारकी ( मन्यते ) मानता है। किन्तु ( तत्त्वतः ) वास्तवमें—शुद्ध निश्चयनयकी दृष्टिसे ( स्वयं ) कर्मोपाधिसे रहित खुद आत्मा ( तथा न ) मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारकीयरूप नहीं है ( तत्त्वतस्तु ) निश्चयनयसे तो यह आत्मा ( अनंतानंतधीशक्तिः ) अनन्तानन्त ज्ञान और अनन्तानन्तशक्तिरूप वीर्यका धारक है। ( स्वसंवेद्यः ) स्वानुभवगम्य है—अपने द्वारा आप अनुभव किये जाने योग्य है और ( अचलस्थितिः ) अपने उक्त स्वभावसे कभी च्युत न होने वाला—उसमें सदा स्थिर रहने वाला है।

**भावार्थ**—यह अज्ञानी आत्मा कर्मोदयसे होने वाली नरनारकादिपर्यायोंको ही अपनी सच्ची अवस्था मानता है। उसे ऐसा भेदविज्ञान नहीं होता कि मेरा स्वरूप इन दृश्यमान पर्यायोंसे सर्वथा भिन्न है। भले ही इन पर्यायोंमें यह मनुष्य है, यह पशु है इत्यादि व्यवहार होता है, परन्तु ये सब अवस्थाएँ कर्मोदयजन्य हैं, जड़ हैं और आत्माका वास्तविक

स्वरूप इनसे भिन्न कर्मोपाधिसे रहित शुद्ध चैतन्यमय टंकोत्कीर्ण एक ज्ञाता द्रष्टा है, अभेद्य है, अनन्तानन्तशक्तिको लिये हुए है, ऐसा विवेक ज्ञान उसको नहीं होता। इसी कारण संसारके परपदार्थोंमें व मनुष्यादि पर्यायोंमें अहंबुद्धि करता है, उनको आत्मा मानता है और सांसारिक विषय सामग्रियोंके संचय करने एवं उनके उपभोग करनेमें ही लगा रहता है। साथ ही, उनके संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद करता रहता है। परन्तु सम्यग्दृष्टि जीव भेद-विज्ञानी होता है, वह इन पर्यायोंको कर्मोदयजन्य मानता है और आत्माके चैतन्यस्वरूपका निरन्तर अनुभव करता रहता है तथा परपदार्थोंको अपनी आत्मासे भिन्न जड़रूप ही निश्चय करता है। इसी कारण पंचेन्द्रियोंके विषयोंमें उसे मूढ़ता नहीं होती और न वह इष्टवियोग—अनिष्टसंयोगादिमें दुखी ही होता है इसलिये आत्म-हितैषियोंको चाहिये कि बहिरात्मावस्थाको अत्यन्त हेय समझकर छोड़ें और सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा होकर समीचीन मोक्षमार्गका साधन करें ॥ ८-९ ॥

स्वदेहे एवमध्यवसायं कुर्वाणो बहिरात्मा परदेहे कथंभूतं करोतीत्याह—

**स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा परदेहमचेतनम्[1] ।**
**परात्माधिष्ठितं मूढः परत्वेनाध्यवस्यति ॥१०॥**

**टीका**—व्यापारव्याहाराकारादिना **स्वदेहसदृशं परदेहं दृष्ट्वा** । कथम्भूतं ? परात्मनाऽधिष्ठितं कर्मवशात्स्वीकृतं अचेतनं चेतनेनसंगतं **मूढो** बहिरात्मा **परत्वेन** परात्मत्वेन **अध्यवस्यति** ॥१०॥

अपने शरीरमें ऐसी मान्यता रखनेवाला बहिरात्मा दूसरेके शरीरमें कैसी बुद्धि रखता है, इसे आगे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( मूढः ) अज्ञानी बहिरात्मा ( परात्माधिष्ठितं ) अन्य-की आत्मासहित ( अचेतनं ) चेतनारहित ( परदेहं ) दूसरेके शरीरको ( स्वदेहसदृशं ) अपने शरीरके समान इन्द्रियव्यापार तथा वचनादि

---

१. णियदेहसरित्थं पिच्छिऊण परविग्गहं पयत्तेण ।
अच्चेयणं पि गहियं झाइज्जइ परमभाएण ॥ ९ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

स्वशरीरमिवान्विष्य पराङ्गं च्युतचेतनम् ।
परमात्मानमज्ञानी परबुद्ध्याऽध्यवस्यति ॥ ३२-१५ ॥
—ज्ञानार्णवे, शुभचंद्रः ।

व्यवहार करता हुआ ( दृष्ट्वा ) देखकर ( परत्वेन ) परका आत्मा ( अध्यवस्यति ) मान लेता है।

**भावार्थ**—अज्ञानी बहिरात्मा जैसे अपने शरीरको अपना आत्मा समझता है उसी प्रकार स्त्री-पुत्र-मित्रादिके अचेतन शरीरको स्त्री-पुत्र-मित्रादिका आत्मा समझता है और अपने शरीरके विनाशसे जैसे अपना विनाश समझता है ठीक उसी प्रकार उनके शरीरके विनाशसे उनका विनाश मानता है, अपने लिये जैसे सांसारिक वैषयिक सुखोंको हितकारी समझता है; दूसरोंके लिये भी उन्हें हितकारी मानता है; सांसारिक सम्पत्तियोंके समागममें सुखकी कल्पना करता है और उनकी अप्राप्तिमें दुःखका अनुभव, अपने स्वार्थके साधकों पर प्रेम करता है और जिनसे अपना कुछ भी लौकिक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता उससे द्वेषबुद्धि रखता है। इस प्रकार बहिरात्माकी शरीरमें आत्मबुद्धि रहती है॥ १०॥

एवंविधाध्यवसायात्किं भवतीत्याह—

**स्वपराध्यवसायेन देहेष्वविदितात्मनाम्[1]।**
**वर्तते विभ्रमः पुंसां पुत्रभार्यादिगोचरः ॥११॥**

**टीका**—**विभ्रमो** विपर्यासः **पुंसां वर्तते**। किं विशिष्टानां ? **अविदितात्मनां** अपरिज्ञातात्मस्वरूपाणां। केन कृत्वाऽसौ **वर्तते** ? **स्वपराध्यवसायेन**। क्व ? **देहेषु**। कथम्भूतो विभ्रमः ? **पुत्रभार्यादिगोचरः**। परमार्थतोऽनात्मीयमनुपकारकमपि पुत्र-भार्याधनधान्यादिकमात्मीयमुपकारकं च मन्यते। तत्सम्पत्तौ संतोषं तद्वियोगे च महासन्तापमात्मवधादिकं च करोति ॥११॥

इस प्रकारकी मान्यतासे बहिरात्माकी परिणति किस रूप होती है उसे दिखाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अविदितात्मनां पुंसां ) आत्माके स्वरूपको नहीं जानने वाले पुरुषोंके ( देहेषु ) शरीरोंमें ( स्वपराध्यवसायेन ) अपनी और परकी आत्ममान्यतासे ( पुत्रभार्यादिगोचरः ) स्त्री-पुत्रादिविषयक ( विभ्रमः वर्तते ) विभ्रम होता है।

**भावार्थ**—यह अज्ञानी बहिरात्मा अपनी आत्माके चैतन्यस्वरूपको न जानकर अपने शरीरके साथ स्त्री-पुत्र-मित्रादिकके शरीर-सम्बन्धको

---

१. सपरज्झवसाएणं देहेसु य अविदिदत्थमप्पाणं।
सुयदाराईविसए मणुयाणं वड्ढए मोहो॥ १०॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः।

ही अपनी आत्माका सम्बन्ध समझता है और इसी कारण उनको अपना उपकारक मानता है, उनकी रक्षाका यत्न करता है, उनके संयोग तथा वृद्धिमें सुखी होता है, उनके वियोगमें अत्यन्त व्याकुल हो उठता है। और यदि कदाचित् उनका बर्ताव अपने प्रतिकूल देखता है तो अत्यन्त शोक भी करता है तथा भारी दुःख मानता है। वस्तुतः जिस प्रकार पक्षीगण नाना दिग्देशोंसे आकर रात्रिमें एक वृक्ष पर बसेरा लेते हैं और प्रातःकाल होते ही सबके सब अपने-अपने अभीष्ट ( इच्छित ) स्थानोंको चले जाते हैं। उसी प्रकार ये संसारके समस्त जीव नाना गतियोंसे आकर कर्मोदयानुसार एक कुटुम्बमें जन्म लेते हैं व रहते हैं। यह मूढ़ात्मा व्यर्थ ही उनमें निजत्वकी बुद्धि धारणकर आकुलित होता है। अन्तरात्माको ऐसी बुद्धि न होनेसे यह परात्मामें आसक्त नहीं होता, और इसीसे स्त्री-पुत्रादि-विषयक विभ्रमसे बचा रहता है ॥ ११ ॥

एवंविधविभ्रमाच्च किं भवतीत्याह—

**अविद्यासंज्ञितस्तस्मात्संस्कारो जायते दृढः[1] ।**
**येन लोकोऽङ्गमेव स्वं पुनरप्यभिमन्यते ॥१२॥**

**टीका**—तस्माद्विभ्रमाद् बहिरात्मनि **संस्कारो** वासना **दृढोऽविचलो जायते**। किन्नामा ? **अविद्यासंज्ञितः** अविद्या संज्ञाऽस्य संजातेति "तारकादिभ्य इतच्"। **येन** संस्कारेण कृत्वा **लोकोऽ**विवेकिजनः। **अंगमेव** शरीरमेव। **स्वं** आत्मानं। **पुनरपि** जन्मान्तरेऽपि। **अभिमन्यते** ॥१२॥

स्त्री-पुत्रादिमें ममत्वबुद्धि-धारणरूप विभ्रमका क्या परिणाम होता है, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( तस्मात् ) उस विभ्रमसे ( अविद्यासंज्ञितः ) अविद्या नामका ( संस्कारः ) संस्कार ( दृढः ) दृढ़–मजबूत ( जायते ) हो जाता है ( येन ) जिसके कारण ( लोकः ) अज्ञानी जीव ( पुनरपि ) जन्मान्तर-में भी ( अंगमेव ) शरीरको ही ( स्वं अभिमन्यते ) आत्मा मानता है।

**भावार्थ**—यह जीव अनादिकालीन अविद्याके कारण कर्मोदयजन्य पर्यायोंमें आत्मबुद्धि धारण करता है—कर्मके उदयसे जो भी पर्याय मिलती है, उसीको अपना आत्मा समझ लेता है, और इस तरह

---

१. मिच्छाणाणेसु रओ मिच्छाभावेण भाविओ संतो ।
मोहोदयेण पुणरवि अंगं सम्मण्णए मणुओ ॥ ११ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

उसका यह अज्ञानात्मक संस्कार जन्मजन्मान्तरोंमें भी बना रहनेसे बराबर दृढ़ होता चला जाता है। जिस प्रकार पत्थरमें रस्सी आदिकी नित्यकी रगड़से उत्पन्न हुए चिह्न बड़ी कठिनतासे दूर करनेमें आते हैं। उसी प्रकार आत्मामें उत्पन्न हुए इन अविद्याके संस्कारोंका दूर करना भी बड़ा ही कठिन हो जाता है ॥ १२ ॥

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतीत्याह—

**देहे स्वबुद्धिरात्मानं युनक्त्येतेन निश्चयात् ।**
**स्वात्मन्येवात्मधीस्तस्माद्वियोजयति देहिनं ॥१३॥**

**टीका—देहे स्वबुद्धिः** आत्मबुद्धिर्बहिरात्मा किं करोति ? **आत्मानं युनक्ति** सम्बद्धं करोति देहिनं दीर्घसंसारिणं करोतीत्यर्थः केन ? **एतेन** देहेन। **निश्चयात्** परमार्थेन। **स्वात्मन्येव** जीवस्वरूपे एव आत्मधीरन्तरात्मा। **निश्चयाद्वियोजयति** असम्बद्धं करोति ॥१३॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्माका स्पष्ट कर्तव्य-भेद बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ—**( देहे स्वबुद्धिः ) शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा ( निश्चयात् ) निश्चयसे ( आत्मानं ) अपनी आत्माको ( एतेन ) शरीरके साथ ( युनक्ति ) जोड़ता-बाँधता है। किन्तु ( स्वात्मनि एव आत्मधीः ) अपनी आत्मामें ही आत्मबुद्धि रखने वाला अन्तरात्मा ( देहिनं ) अपनी आत्माको ( तस्मात् ) शरीरके सम्बन्धसे ( वियोजयति ) पृथक् करता है।

**भावार्थ—**मिथ्यादृष्टि बहिरात्मा शरीरको ही आत्मा मानता है और इस प्रकारकी मान्यतासे ही आत्माके साथ नये-नये शरीरोंका संबंध होता रहता है, जिससे यह अज्ञानी-जीव अनन्तकाल तक इस गहन-संसार-वनसे भटकता फिरता है और कर्मोंके तीव्रतापसे सदा पीड़ित रहता है। जब शरीरसे ममत्व छूट जाता है अर्थात् शरीरको अपने चैतन्य स्वरूपसे भिन्न पुद्गलका पिंड समझ लिया जाता है और आत्माके निज ज्ञानदर्शन स्वरूपमें ही आत्मबुद्धि हो जाती है तब यह जीव सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा होकर तपश्चरण अथवा ध्यानादिकके द्वारा अपने आत्माको शरीरादिकके बन्धनसे सर्वथा पृथक् कर लेता है और सदाके लिए मुक्त हो जाता है। अतएव बहिरात्मबुद्धिको छोड़कर अन्तरात्मा होना चाहिए और परमात्मपदको प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये ॥ १३ ॥

देहेष्वात्मानं योजयतश्च बहिरात्मनो दुर्विलसितोपदर्शनपूर्वकमाचार्योऽनुशयं कुर्वन्नाह—

**देहेष्वात्मधिया जाताः पुत्रभार्यादिकल्पनाः ।**
**सम्पत्तिमात्मनस्ताभिर्मन्यते हा हतं ! जगत् ॥१४॥**

टीका—जाताः प्रसूताः । काः ? **पुत्रभार्यादिकल्पनाः** । क्व ? **देहेषु** । कया ? **आत्मधिया** । क्व ? देहेष्वेव । अयमर्थः—पुत्रादिदेहं जीवत्वेन प्रतिपद्यमानस्य मत्पुत्रो भार्येत्यादिकल्पना विकल्पा जायन्ते । **ताभिश्च**ानात्मनीयाभिरनुपकारिणीभिश्च । **सम्पत्तिं** पुत्रभार्यादिविभूत्यतिशयं **आत्मनो मन्यते** जगत्कर्तृस्वस्वरूपाद् बहिर्भूतं जगत् बहिरात्मा प्राणिगणः **हा हतं** नष्टं स्वस्वरूपपरिज्ञानात् ॥१४॥

शरीरोंमें आत्माके सम्बन्धको जोड़नेवाले बहिरात्माके निन्दनीय व्यापारको दिखाते हुए आचार्य महोदय अपना खेद प्रकट करते हैं—

**अन्वयार्थ**—( देहेषु ) शरीरोंमें ( आत्मधिया ) आत्मबुद्धि होनेसे ( पुत्रभार्यादिकल्पनाः ) मेरा पुत्र, मेरी स्त्री इत्यादि कल्पनाएँ ( जाताः ) उत्पन्न होती हैं ( हा ) खेद है कि ( जगत् ) बहिरात्मस्वरूप प्राणिगण ( ताभिः ) उन कल्पनाओंके कारण ( सम्पत्ति ) स्त्री-पुत्रादिकी समृद्धिको ( आत्मनः ) अपनी समृद्धि ( मन्यते ) मानता है और इस प्रकार यह जगत् ( हतं ) नष्ट हो रहा है ।

**भावार्थ**—जब तक इस जीवकी देहमें आत्म बुद्धि रहती है तब तक इसे अपने निराकुल निजानन्द रसका स्वाद नहीं आता, न अपनी अनन्तचतुष्टयरूप सम्पत्तिका भान ( ज्ञान ) होता है और तभी यह संसारी जीव स्त्री-पुत्र-मित्र-धन-धान्यादि सम्पत्तियोंको अपनी मानता हुआ उनके संयोग-वियोगमें हर्ष-विषाद करता है तथा फलस्वरूप अपने संसार परिभ्रमणको बढ़ाता जाता है । इसीसे आचार्य महोदय ऐसे जीवोंकी इस विपरीत बुद्धि पर खेद प्रकट करते हुए कहते हैं कि 'हाय ! यह जगत् मारा गया !' ठगा गया, इसे अपना कुछ भी चेत नहीं रहा ॥ १४ ॥

इदानीमुक्तमर्थमुपसंहृत्यान्तरात्मनोऽनुप्रवेशं दर्शयन्नाह—

**मूलं संसारदुःखस्य देह एवात्मधीस्ततः ।**
**त्यक्त्वैनां प्रविशेदन्तर्बहिरव्यापृतेन्द्रियः ॥१५॥**

टीका—**मूलं** कारणं । कस्य ? **संसारदुःखस्य** । काऽसौ ? **देह एवात्मधीः** देहः कायः स एवात्मधीः । यत एवं **ततस्तस्मात्कारणात्** । **एनां** देह एवात्मबुद्धिं ।

त्यक्त्वा अन्तः प्रविशेत् आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्यात् अन्तरात्मा भवेदित्यर्थः। कथंभूतः सन्? बहिरव्यापृतेन्द्रियः बहिर्बाह्यविषयेषु अव्यापृतान्यप्रवृत्तानीन्द्रियाणि यस्य ॥१५॥

अब बहिरात्माके स्वरूपादिका उपसंहार करके देहमें आत्मबुद्धिको छोड़नेकी प्रेरणाके साथ अन्तरात्मा होनेका उपदेश देते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( देहे) इस जड़ शरीरमें ( आत्मधीः एव ) आत्मबुद्धिका होना ही ( संसारदुःखस्य ) संसारके दुःखोंका ( मूलं ) कारण है। (ततः) इसलिए ( एनां ) शरीरमें आत्मत्वकी मिथ्या कल्पनाको ( त्यक्त्वा ) छोड़कर ( बहिरव्यापृतेन्द्रियः ) बाह्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिको रोकता हुआ ( अन्तः ) अन्तरंगमें अर्थात् आत्मामें ही ( प्रविशेत् ) प्रवेश करे।

**भावार्थ**—संसारके जितने भी दुःख और प्रपंच हैं वे सब शरीरके साथ ही होते हैं। जब तक इस जीवकी बाह्यपदार्थोंमें आत्मबुद्धि रहती है तब तक ही आत्मासे शरीरका सम्बन्ध होता रहता है और घोर दुःखोंको भोगना पड़ता है। जब इस जीवका शरीरादि परद्रव्योंसे सर्वथा ममत्वभाव छूट जाता है तब किसी भी बाह्यपदार्थमें अहंकार-ममकार-रूप बुद्धि नहीं होती तथा तत्त्वार्थका यथार्थ श्रद्धान होनेसे आत्मा परम सन्तुष्ट होता है। और साधकभावकी पूर्णता होनेपर स्वयमेव साध्यरूप बन जाता है। इसी कारण इस ग्रंथमें ग्रंथकारने समस्त दुःखोंकी जड़ शरीरमें आत्मबुद्धिका होना बताया है और उसके छुड़ाने की प्रेरणा की है। अतः संसारके समस्त दुःखोंका मूल कारण देहमें आत्मकल्पनारूप बुद्धिका परित्याग कर अन्तरात्मा होना चाहिये, जिससे घोर दुःखोंसे छुटकारा मिले और सच्चे निराकुल सुखकी प्राप्ति होवे ॥ १५ ॥

अंतरात्मा आत्मन्यात्मबुद्धिं कुर्वाणोऽलब्धलाभात्संतुष्ट आत्मीयां बहिरात्मावस्थामनुस्मृत्य विषादं कुर्वन्नाह—

**मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः पतितो ( पतितो ) विषयेष्वहम् ।**

**तान् प्रपद्याऽहमिति मां पुरा वेद न तत्त्वतः ॥ १६ ॥**

**टीका**—मत्तः आत्मस्वरूपात्। च्युत्वा व्यावृत्य। अहं पतितः ( पतितः ) अत्यासक्तया प्रवृत्तः। क्व? विषयेषु। कैः कृत्वा? इन्द्रियद्वारैः इन्द्रियमुखैः। ततस्तान् विषयान् प्रपद्य ममोपकारका एते इत्यतिगृद्ध्यानुसृत्य। मां आत्मानं न वेद न ज्ञातवान्। कथं? अहमित्युल्लेखेन अहमेवाहं न शरीरादिकमित्येवं तत्त्वतो न ज्ञातवानित्यर्थः। कदा? पुरा पूर्वं अनादिकाले ॥ १६ ॥

अपनी आत्मामें आत्मबुद्धि धारण करता हुआ अन्तरात्मा जब अलब्ध लाभसे सन्तुष्ट होता है तब अपनी पहली बहिरात्मावस्थाका स्मरण करके विषाद करता हुआ विचारता है—

**अन्वयार्थ**—( अहं ) मैं ( पुरा ) अनादिकालसे ( मत्तः ) आत्मस्वरूपसे ( च्युत्वा ) च्युत होकर ( इन्द्रियद्वारैः ) इन्द्रियोंके द्वारा ( विषयेषु ) विषयोंमें ( पतितः ) पतित हुआ हूँ—अत्यासक्तिसे प्रवृत्त हुआ हूँ [ ततः ] इसी कारण ( तान् ) उन विषयोंको ( प्रपद्य ) अपने उपकारक समझ कर मैंने ( तत्त्वतः ) वास्तवमें ( मां ) आत्मा को [ अहमिति ] मैं ही आत्मा हूँ इस रूपसे ( न वेद ) नहीं जाना—अर्थात् उस समय शरीरको ही आत्मा समझनेके कारण मुझे आत्माके यथार्थ स्वरूपका परिज्ञान नहीं हुआ।

**भावार्थ**—जब तक इस जीवको अपने चैतन्य स्वरूपका यथार्थ परिज्ञान नहीं होता तभी तक इसे बाह्य इन्द्रियोंके विषय सुन्दर और सुखदाई मालूम पड़ते हैं। जब चैतन्य और जड़का भेद-विज्ञान हो जाता है और अपने निराकुल चिदानन्दमयी सुधारसका स्वाद आने लगता है तब ये बाह्य इन्द्रियोंके विषय बड़े ही असुन्दर और काले विषधरके समान मालूम पड़ते हैं। कहा भी है—

एवमभिमन्यमानश्चासौ किं करोतित्याह—

"जायन्ते विरसा रस विघटते गोष्ठी कथा कौतुकं,
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमति प्रीतिः शरीरेऽपि च।
जोषं वागपि धारयत्यविरतानंदात्मनः स्वात्मन-
श्चितायामपि यातुमिच्छतिमनो दोषैः समं पंचताम्।"

अर्थात्—आत्माका अनुभव होने पर रस विरस हो जाता है, गोष्ठी, कथा और कौतुकादि सब नष्ट हो जाते हैं, विषयोंसे सम्बन्ध छूट जाता है, शरीरसे भी ममत्व नहीं रहता, वाणी भी मौन धारण कर लेती है और आत्मा सदा अपने शांत रसमें लीन हो जाता है तथा मनके दोषोंके साथ-साथ चिंता भी दूर हो जाती है।

इसी कारण यह जीव जिन भोगोंको पहले मिथ्यात्व दशामें सुखका कारण समझकर भोगा करता था उन्हींके लिए सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा होने पर पश्चात्ताप करने लगता है। यह सब भेदविज्ञानकी महिमा है॥ १६॥

अथात्मनो ज्ञप्त्युपायं दर्शयन्नाह—

**एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं त्यजेदन्तरशेषतः ।**

**एष योगः समासेन प्रदीपः परमात्मनः ॥ १७ ॥**

**टीका**—**एवं** वक्ष्यमाणन्यायेन । **बहिर्वाचं** पुत्रभार्याधनधान्यादि लक्षणान्बहि-रर्थवाचकशब्दान् । **त्यक्त्वा** । **अशेषतः** साकल्येन । पश्चात् **अन्तर्वाचं** "अहं प्रतिपादकः, प्रतिपाद्यः, सुखी, दुःखी, चेतनावेत्यादिलक्षणमन्तर्जल्पं **त्यजेदशेषतः** । **एष** बहिरन्तर्जल्पत्यागलक्षणः । **योगः** स्वरूपे चित्तनिरोधलक्षणः समाधिः । **प्रदीपः** स्वरूपप्रकाशकः । **कस्य ? परमात्मनः** । **कथं ? समासेन** संक्षेपेण झटिति परमात्म-स्वरूपप्रकाशक इत्यर्थः ॥ १७ ॥

अब आचार्य आत्माको जाननेका उपाय प्रकट करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( एवं ) आगे कहे जानेवाली रीतिके अनुसार ( **बहिर्वाचं** ) बाह्यार्थवाचक वचन प्रवृत्तिको ( त्यक्त्वा ) त्यागकर ( अन्तः ) अन्तरंग वचनप्रवृत्तिको भी ( अशेषतः ) पूर्णतया ( त्यजेत् ) छोड़ देना चाहिये। ( एषः ) यह बाह्याभ्यन्तररूपसे जल्पत्यागलक्षणवाला ( योगः ) योग—स्वरूपमें चित्तनिरोधलक्षणात्मक समाधि ही ( समासेन ) संक्षेपसे ( पर-मात्मनः ) परमात्माके स्वरूपका ( प्रदीपः ) प्रकाशक है।

**भावार्थ**—स्त्री-पुत्र-धन-धान्यादि-विषयक बाह्य वचनव्यापारको और मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, शिष्य हूँ इत्यादि अन्तरंगजल्पको हटाकर चित्तकी एकाग्रताका जो सम्पादन करना है वही योग अथवा समाधि है और वही परमात्मस्वरूपका प्रकाशक है। जिस समय आत्मा इन बाह्य और आभ्यन्तर मिथ्या विकल्पोंका परित्याग कर देता है, उसी समय वह इन्द्रियोंकी प्रवृत्तिसे हटकर निज स्वरूपमें लीन हो जाता है और शुद्ध आत्मस्वरूपका साक्षात्कार कर लेता है।

वास्तवमें यह समाधि ही जन्म-जरा-मरणरूप आतापको मिटानेवाली परम औषधि है और परमात्मपदकी प्राप्तिका अमोघ उपाय है। ऐसी समाधिका निरन्तर अभ्यास करना चाहिए ॥ १७ ॥

कुतः पुनर्बहिरन्तर्वाचस्त्यागः कर्तव्य इत्याह—

**[1]यन्मया दृश्यते रूपं तन्न जानाति सर्वथा ।**

**जानन्न दृश्यते रूपं ततः केन ब्रवीम्यहम् ॥ १८ ॥**

---

१. जं मया दिस्सदे रूवं तं ण जाणादि सव्वहा ।
 जाणगं दिस्सदे णं तं तम्हा जंपेमि केणहं ॥ २९ ॥
 —मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

**टीका**—रूपं शरीरादिरूपं यद् दृश्यते इन्द्रियैः परिच्छेद्यते मया तदचेतनत्वात् उक्तमपि वचनं सर्वथा न जानाति। जानता च समं वचनव्यवहारो युक्तो नान्येनातिप्रसङ्गात्। यच्च जानद् रूपं चेतनमात्मस्वरूपं तन्न दृश्यते इन्द्रियैर्न परिच्छिद्यते। यत एवं ततः केन सह ब्रवीम्यहम्॥ १८॥

अब अन्तरंग और बहिरंग वचनकी प्रवृत्तिके छोड़नेका उपाय बताते हैं—

**अन्वयार्थ**—( मया ) इन्द्रियोंके द्वारा मुझे ( यत् ) जो ( रूप ) शरीरादिकरूपी पदार्थ ( दृश्यते ) दिखाई दे रहा है ( तत् ) वह अचेतन होनेसे ( सर्वथा ) बिल्कुल भी ( न जानाति ) नहीं जानता और ( जानत रूपं ) जो पदार्थोंको जानने वाला चैतन्यरूप है वह ( नदृश्यते ) मुझे इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं देता ( ततः अहं ) इस लिये मैं ( केन ) किसके साथ ( ब्रवीमि ) बात करूँ।

**भावार्थ**—जो अपनेको दिखाई पड़े और अपने अभिप्रायको समझे उसीके साथ बातचीत करना या बोलना उचित है। इसी आशयको लेकर अन्तरात्मा द्रव्यार्थिकनयको प्रधानकर अपने मनको समझाता है कि—जो जाननेवाला चैतन्य द्रव्य है वह तो मुझे दिखाई नहीं देता और जो इन्द्रियोंके द्वारा रूपी शरीरादिक जड़ पदार्थ दिखाई दे रहे हैं वे चेतनारहित होनेसे कुछ भी नहीं जानते हैं, तब मैं किससे बात करूँ? किसीसे भी वार्तालाप करना नहीं बनता। इसलिए मुझे अब चुपचाप [ मौनयुक्त ] रहना ही मुनासिब है। ग्रन्थकार श्री पूज्यपाद स्वामीने विभाव-भाव रूप झंझटोंसे छूटने और वचनादिको वशमें करनेका यह अच्छा सरल एवं उत्तम उपाय बतलाया है॥ १८॥

एवं बहिर्विकल्पं परित्याज्यान्तर्विकल्पं परित्याजयन्नाह—

**यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं यत्परान् प्रतिपादये।**
**उन्मत्तचेष्टितं तन्मे यदहं निर्विकल्पकः॥ १९॥**

**टीका**—परैरुपाध्यायादिभिरहं यत्प्रतिपाद्यः परान् शिष्यादीनहं यत्प्रतिपादये तत्सर्वं मे उन्मत्तचेष्टितं मोहवशादुन्मत्तस्येवाखिलं विकल्पजालात्मकं विजृम्भितमित्यर्थः। कुत एतत्? यदहं निर्विकल्पको यदहमात्मा निर्विकल्पक एवंवचनविकल्पैरग्राह्यः॥ १९॥

इस प्रकार बाह्य विकल्पोंके त्यागका प्रकार बतलाकर अब आभ्यन्तर विकल्पोंके छुड़ानेका यत्न करते हुए आचार्य कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अहं ) मैं ( परैः ) उपाध्याय आदिकोंसे ( यत्-प्रतिपाद्यः ) जो कुछ प्रतिपादित किया जाता हूँ तथा ( परान् ) शिष्या-दिकोंको ( यत् प्रतिपादये ) जो कुछ प्रतिपादन करता हूँ [ तत् ] वह सब ( मे ) ( मेरी उन्मत्तचेष्टितं ) पागलों जैसी चेष्टा है ( यदहं ) क्योंकि मैं ( निर्विकल्पकः ) विकल्प रहित हूँ—वास्तवमें मैं इन सभी वचन-विकल्पोंसे अग्राह्य हूँ।

**भावार्थ**—सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माके लिये उचित है कि वह अपने निज स्वरूपका अनुभव करे। मैं राजा हूँ, रंक हूँ, दीन हूँ, धनी हूँ, गुरु हूँ, शिष्य हूँ इत्यादि अनेक विकल्प हैं जिनसे आत्माका वास्तविक स्वरूप प्रकट नहीं हो सकता। अतएव ऐसे विकल्पोंका परित्याग करना चाहिये और यह समझना चाहिए कि आत्माका स्वरूप निर्विकल्पक चैतन्य ज्योतिर्मय है ॥ १९ ॥

तदेव विकल्पातीतं स्वरूपं निरूपयन्नाह—

**यदग्राह्यं न गृह्णाति गृहीतं नैव मुंचति ।**
**जानाति सर्वथा सर्वं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥ २० ॥**

**टीका**—यत् शुद्धात्मस्वरूपं । **अग्राह्यं** कर्मोदयनिमित्तं क्रोधादिस्वरूपं । **न गृह्णाति** आत्मस्वरूपतया न स्वीकरोति । **गृहीतमनन्तज्ञानादिस्वरूपं** । **नैव मुञ्चति** कदाचिन्न परित्यजति । तेन च स्वरूपेण सहितं शुद्धात्मस्वरूपं किं करोति ? **जानाति** । किं विशिष्टं तत् ? **सर्वं** चेतनमचेतनं वा वस्तु । कथं जानाति ? **सर्वथा** द्रव्यपर्यायादिसर्वप्रकारेण । **तदित्थम्भूतं स्वरूपं** **स्वसंवेद्यं** **स्वसंवेदनग्राह्यम्** **अहमात्मा** **अस्मि** भवामि ॥ २० ॥

उसी निर्विकल्पक स्वरूपका निरूपण करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यत् ) जो शुद्धात्मा ( अग्राह्यं ) ग्रहण न करने योग्यको ( न गृह्णाति ) ग्रहण नहीं करता है और ( गृहीतं अपि ) ग्रहण किये गये अनन्तज्ञानादि गुणोंको ( न मुञ्चति ) नहीं छोड़ता है तथा ( सर्वं ) सम्पूर्ण पदार्थोंको ( सर्वथा ) सर्व प्रकारसे ( जानाति ) जानता है ( तत् ) वही ( स्वसंवेद्यं ) अपने द्वारा ही अनुभवमें आने योग्य चैतन्यद्रव्य ( अहं-अस्मि ) मैं हूँ।

**भावार्थ**—जबतक आत्मामें अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य अथवा क्षायिक सम्यक्त्वादि गुणोंका विकास नहीं होता तबतक ही आत्मा विभाव-भावोंसे मलिन होकर अग्राह्यका ग्राहक होता

है अथवा कर्मोंका कर्ता और भोक्ता कहलाता है; किन्तु जब समस्त विभाव-भावोंका अभावकर आत्मा सम्पूर्ण पदार्थोंका ज्ञाता-द्रष्टा हुआ आत्मद्रव्यमें स्थिर हो जाता है तब वह अपने गृहीत स्वरूपसे च्युत नहीं होता और तभी उसे परमब्रह्म या परमात्मा कहते हैं। जीवकी यह स्थिति ही उसकी वास्तविक स्थिति है ॥ २० ॥

इत्थंभूतात्मपरिज्ञानात्पूर्वं कीदृशं मम चेष्टितमित्याह—

**उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः स्थाणौ यद्वद्विचेष्टितम् ।**
**तद्वन्मे चेष्टितं पूर्वं देहादिष्वात्मविभ्रमात् ॥ २१ ॥**

**टीका**—उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः पुरुषोऽयमित्युत्पन्ना भ्रान्तिर्यस्य प्रतिपत्तुस्तस्य। स्थाणौ स्थाणुविषये। यद्वत्प्रकारेण। विचेष्टितं विविधमुपकारापकारादिरूपं चेष्टितं विपरीतं वा चेष्टितं। तद्वत् तत्प्रकारेण। मे चेष्टितं। क्व? देहादिषु। कस्मात्? आत्मविभ्रमात् आत्मविपर्यासात्। का? पूर्वम् उक्तप्रकारात्मस्वरूपपरिज्ञानात् ॥ २१ ॥

'इस प्रकारके आत्मज्ञानके पूर्व मेरी कैसी चेष्टा थी', अन्तरात्माके इस विचारका उल्लेख करते हैं—

**अन्वयार्थ**—( स्थाणौ ) स्थाणुमें ( उत्पन्नपुरुषभ्रान्तेः ) उत्पन्न हो गई है पुरुषपनेकी भ्रान्ति जिसको ऐसे मनुष्यकी ( यद्वत् ) जिस प्रकार ( विचेष्टितम् ) विकृत अथवा विपरीत चेष्टा होती है ( तद्वत् ) उसी प्रकारकी ( देहादिषु ) शरीरादिक परपदार्थोंमें (आत्मविभ्रात् ) आत्माका भ्रम होनेसे ( पूर्वं ) आत्मज्ञानसे पहले ( मे ) मेरी ( चेष्टितम् ) चेष्टा थी।

**भावार्थ**—अन्तरात्मा विचारता है कि जैसे कोई पुरुष भ्रमसे वृक्षके ठूँठको पुरुष समझकर उसके अपने उपकार-अपकारादिकी कल्पना करके सुखी-दुखी होता है उसी तरह मैं भी आत्मज्ञानसे पूर्वकी मिथ्यात्व अवस्थामें भ्रमसे शरीरादिकको आत्मा समझकर उससे अपने उपकार अपकारादिकी कल्पना करके सुखी-दुखी हुआ हूँ ॥ २१ ॥

साम्प्रतं तु तत्परिज्ञाने सति कीदृशं मे चेष्टितमित्याह—

**यथाऽसौ चेष्टते स्थाणौ निवृत्ते पुरुषाग्रहे ।**
**तथाचेष्टोऽस्मि देहादौ विनिवृत्तात्मविभ्रमः ॥ २२ ॥**

टीका—**असौ** उत्पन्नपुरुषभ्रान्तिः पुरुषाग्रहे पुरुषाभिनिवेशे निवृत्ते विनष्टे सति यथा येन पुरुषाभिनिवेशजनितोपकारापकाराद्युद्यमकरणमूलेनपरित्यागप्रका-

रेण । चेष्टते प्रवर्तते । तथाचेष्टोऽस्मि तथा तदुद्यमपरित्यागप्रकारेण चेष्टा यस्यासौ तथाचेष्टोऽस्मि भवाम्यहम् । क्व ? देहादौ । किंविशिष्टः ? विनिवृत्तात्मविभ्रमः विशेषेण निवृत्त आत्मविभ्रमो यस्य । क्व ? देहादौ ॥ २२ ॥

अब आत्मज्ञान हो जानेसे मेरी किस प्रकारकी चेष्टा हो गई है उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( असौ ) जिसको वृक्षके ठूँठमें पुरुषका भ्रम हो गया था वह मनुष्य ( स्थाणौ ) ठूँठमें ( पुरुषाग्रहे निवृत्ते ) यह पुरुष है ऐसे मिथ्याभिनिवेशके नष्ट हो जाने पर ( यथा ) जिस प्रकार उससे अपने उपकारादिकी कल्पना त्यागने की ( चेष्टते ) चेष्टा करता है उसी प्रकार ( देहादौ ) शरीरादिकमें ( विनिवृत्तात्मविभ्रमः ) आत्मपनेके भ्रमसे रहित हुआ मैं भी ( तथा चेष्टः अस्मि ) देहादिकमें अपने उपकारादिकी बुद्धिको छोड़नेमें प्रवृत्त हुआ हूँ।

**भावार्थ**—जब वृक्षके ठूँठको वृक्षका ठूँठको जान लिया जाता है तब उससे होने वाला पुरुष-विषयक भ्रम भी दूर हो जाता है और फिर उस कल्पित पुरुषसे अपने उपकार, अपकारकी कोई कल्पना भी अवशिष्ट नहीं रहती। इसी दृष्टिसे सम्यग्दृष्टि अंतरात्मा विचार करता है कि पूर्व मिथ्यात्व-दशामें जब मैं मोहोदयसे शरीरको ही आत्मा समझता था तब मैं इन्द्रियोंका दास था, उनकी साता परिणतिमें सुख और असाता परिणतिमें ही दुःख मानता था, किन्तु अब विवेक-ज्योति का विकास हुआ—आत्मा चैतन्यस्वरूप है, बाकी सब पदार्थ अचेतन हैं—जड़ हैं; आत्मासे भिन्न हैं, इस प्रकारके जड़ और चैतन्यके भेद विज्ञानसे मुझे तत्त्वार्थ-श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी प्राप्ति हुई और शरीरादिकके विषयमें होने वाला आत्म-विषयक मेरा भ्रम दूर हो गया है। इसीसे शरीरके संस्कारादि विषयमें मेरी अब उपेक्षा हो गई है—मैं समझने लगा हूँ कि शरीरादिकके बनने अथवा बिगड़नेसे मेरे आत्माका कुछ भी बनता अथवा बिगड़ता नहीं है और इसीसे शरीरादिकी अनावश्यक चिंताको छोड़कर अब मैं सविशेषरूपसे आत्म-चिन्तनमें प्रवृत्त हुआ हूँ ॥ २२ ॥

अथेदानीमात्मनि स्त्र्यादिलिङ्गैकत्वादिसंख्याविभ्रमनिवृत्त्यर्थं तद्विविक्तासाधारणस्वरूपं दर्शयन्नाह—

**येनात्मनाऽनुभूयेऽहमात्मनैवात्मनाऽऽत्मनि ।**
**सोऽहं न तन्न सा नासौ नैको न द्वौ न वा बहुः ॥ २३ ॥**

टीका—येनात्मना चैतन्यस्वरूपेण ''इत्थंभावे तृतीया''। अहमनुभूये। केन कर्त्रा ? आत्मनैव अनन्येन। केन कारणभूतेन ? आत्मना स्वसंवेदनस्वभावेन। क्व ? आत्मनि स्वस्वरूपे। सोऽहं इत्थंभूतस्वरूपोऽहं न तत् न नपुंसकं। न सा न स्त्री। नासौ न पुमान् अहं। तथा नैको न द्वौ न वा बहुरहं। स्त्रीत्वादिधर्माणां कर्मोत्पादितदेहस्वरूपत्वात् ॥२३॥

अब आत्मामें स्त्री आदि लिङ्गोंके तथा एकत्वादि संख्याके भ्रमको दूर करनेके लिये और इन विकल्पोंसे रहित आत्माका असाधारणस्वरूप दिखलानेके लिये कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( येन ) जिस (आत्मना ) चैतन्यस्वरूपसे ( अहम् ) मैं ( आत्मनि ) अपनी आत्मामें ही ( आत्मना ) अपने स्वसंवेदनज्ञानके द्वारा (आत्मनैव ) अपनी आत्माको आप ही ( अनुभूये ) अनुभव करता हूँ ( सः ) वही शुद्धात्मस्वरूप ( अहं ) मैं ( न तत् ) न तो नपुंसक हूँ ( न सा ) न स्त्री हूँ ( न असौ ) न पुरुष हूँ ( न एको ) न एक हूँ ( न द्वौ ) न दो हूँ ( वा ) और ( न बहुः ) न बहुत हूँ।

**भावार्थ**—अन्तरात्मा विचार करता है कि जीवमें स्त्री-पुरुष आदिका व्यवहार केवल शरीरको लेकर होता है; इसी प्रकार एक दो और बहुवचनका व्यवहार भी शरीराश्रित है अथवा गुण-गुणीकी भेदकल्पनाके कारण होता है; जब शरीर मेरा रूप ही नहीं है और मेरा शुद्धस्वरूप निर्विकल्प है तब मुझमें लिंगभेद और वचनभेद कैसे बन सकता है ? ये स्त्रीत्वादिधर्म तो कर्मजनित अवस्थाएँ हैं, मेरा निजरूप नहीं हैं—मेरा शुद्ध चैतन्य स्वरूप इन सबसे परे है ॥ २३ ॥

येनात्मनाऽनुभूयसे स कीदृश इत्याह—

**यदभावे सुषुप्तोऽहं यद्भावे व्युत्थितः पुनः।**
**अतीन्द्रियमनिर्देश्यं तत्स्वसंवेद्यमस्म्यहम् ॥२४॥**

टीका—यस्य शुद्धस्य स्वसंवेद्यस्य रूपस्य अभावे अनुपलम्भे। सुषुप्तो यथावत्पदार्थपरिज्ञानाभावलक्षणनिद्रया गाढाक्रान्तः। यद्भावे यस्य तत्स्वरूपस्य भावे उपलम्भे। पुनर्व्युत्थितः विशेषेणोत्थितो जागरितोऽहं यथावत्स्वरूपपरिच्छित्तिपरिणत इत्यर्थः। किंविशिष्टं तत्स्वरूपं ? अतीन्द्रियं इन्द्रियैरजन्यमग्राह्यं च। अनिर्देश्यं शब्दविकल्पागोचरत्वादिदंतयाऽनिदन्तया वा निर्देष्टुमशक्यम्। तदेवंविधं स्वरूपं कुतः सिद्धमित्याह—तत्स्वसंवेद्यं तदुक्तप्रकारकस्वरूपं स्वसंवेदनग्राह्यं अहमस्मीति ॥२४॥

यदि कोई पूछे कि जिस आत्मस्वरूपसे तुम अपनेको अनुभव करते हो वह कैसा है, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यत् अभावे ) जिस शुद्धात्मस्वरूपके प्राप्त न होनेसे ( अहं ) मैं ( सुषुप्तः ) अब तक गाढ़ निद्रामें पड़ा रहा हूँ—मुझे पदार्थोंका यथार्थ परिज्ञान न हो सका— ( पुनः ) और ( यत् भावे ) जिस शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धि होने पर मैं ( व्युत्थितः ) जागरित हुआ हूँ—यथावत् वस्तुस्वरूपको जानने लगा हूँ ( तत् ) वह शुद्धात्मास्वरूप ( अतीन्द्रियं ) इन्द्रियोंके द्वारा ग्राह्य नहीं है ( अनिर्देश्यं ) वचनोंके भी अगोचर है—कहा नहीं जाता। वह तो ( स्वसंवेद्यं ) अपने द्वारा आपही अनुभव करने योग्य है। उसी रूप ( अहं अस्मि ) मैं हूँ।

**भावार्थ**—जब तक इस जीवको शुद्ध चैतन्यरूप अपने निजस्वरूपकी प्राप्ति नहीं होती तब तक ही यह जीव मोहरूपी गाढ़निद्रामें पड़ा हुआ सोता रहता है; किन्तु जब अज्ञानभावरूप निद्राका विनाश हो जाता है और शुद्धस्वरूपकी प्राप्ति हो जाती है उसी समयसे यह जागरित कहलाता है। संसारके रागी जीव व्यवहारमें जागते हैं किन्तु अपने आत्मस्वरूपमें सोते हैं; परन्तु आत्मज्ञानी संयमी पुरुष व्यवहारमें सोते हैं और आत्मस्वरूपमें सदा सावधान एवं जाग्रत रहते हैं[1] ॥ २४ ॥

तत्स्वरूपं स्वसंवेदयतो रागादिप्रक्षयान्न क्वचिच्छत्रुमित्रव्यवस्था भवतीति दर्शयन्नाह—

**क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्यास्तत्त्वतो मां प्रपश्यतः ।**
**बोधात्मानं ततः कश्चिन्न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२५॥**

**टीका**—अत्रैव न केवलमग्रे किन्तु अत्रैव जन्मनि क्षीयन्ते। के ते ? रागाद्याः आदौ भवः आद्यः राग आद्यो येषां द्वेषादीनां ते तथोक्ताः। किं कुर्वन्तस्ते क्षीयन्ते ? तत्त्वतो मां प्रपश्यतः। कथम्भूतं मां ? बोधात्मानं ज्ञानस्वरूपं। ततः

1. जो सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः

या निशा सर्व भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥
—गीता २-६९

इत्यादि—यतो यथावदात्मानं पश्यतो रागादयः प्रक्षीणास्ततस्तस्मात् कारणात् न मे कश्चिच्छत्रुः न च नैव प्रियो मित्रम् ॥२५॥

आत्मस्वरूपका अनुभव करने वालेकी आत्मामें रागादि दोषोंका अभाव हो जानेसे शत्रु-मित्रकी कल्पना ही नहीं होती, ऐसा दिखाते हैं—

**अन्वयार्थ**—[ यतः ] क्योंकि ( बोधात्मानं ) शुद्ध ज्ञानस्वरूप ( मां ) मुझ आत्माका ( तत्त्वतः प्रपश्यतः ) वास्तवमें अनुभव करने वालेके ( अत्र एव ) इस जन्ममें ही ( रागाद्याः ) राग, द्वेष, क्रोध, मान, मायादिक दोष ( क्षीयन्ते ) नष्ट हो जाते हैं ( ततः ) इसलिये ( मे ) मेरा ( न कश्चित् ) न कोई ( शत्रुः ) शत्रु है ( न च ) और न कोई ( प्रियः ) मित्र है।

**भावार्थ**—जब तक यह जीव अपने निजानन्दमयी स्वाभाविक निराकुलतारूप सुखामृतका पान नहीं करता तब तक ही यह बाह्य पदार्थोंको भ्रमसे इष्ट-अनिष्ट मानकर उनके संयोग-वियोगके लिये सदा चिन्तित रहता है और जो उस संयोग-वियोगमें साधक होते हैं उन्हें अपना शत्रु-मित्र मान लेता है, किन्तु जब आत्मा प्रबुद्ध होकर यथार्थ वस्तुस्थितिका अनुभव करने लगता है तब उसकी रागद्वेषादिरूप विभाव-परिणति मिट जाती है और इसलिये बाह्य सामग्रीके साधक-बाधक कारणोंमें उसके शत्रु-मित्रताका भाव नहीं रहता। वह तो उस समय अपने ज्ञानानन्दस्वरूपमें मग्न रहना ही सर्वोपरि समझता है ॥ २५ ॥

यदि त्वमन्यस्य कस्यचिन्न शत्रुर्मित्रं वा तथापि तवान्यः कश्चिद्भविष्यतीत्याशंक्याह—

**मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः।**
**मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः ॥२६॥**

टीका—किं मात्मस्वरूपे प्रतिपन्नेऽप्रतिपन्ने वाऽयं लोको मयि शत्रुमित्रभावं प्रतिपद्यते ? न तावदप्रतिपन्ने। मामपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। अप्रतिपन्ने हि वस्तुस्वरूपे रागाद्युत्पत्तावतिप्रसङ्गः। नापि प्रतिपन्ने। यतः मां प्रपश्यन्नयं लोको न मे शत्रुर्न च प्रियः। आत्मस्वरूपप्रतीतौ रागादिप्रक्षयात् कथं क्वचिदपि शत्रुमित्रभावः स्यात् ? ॥२६॥

यदि कोई कहे कि भले ही तुम किसी दूसरेके शत्रु या मित्र न हो परन्तु तुम्हारा तो कोई अन्य शत्रु वा मित्र अवश्य होगा, इस शंकाका समाधान करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( मां ) मेरे आत्मस्वरूपको ( अपश्यन् ) नहीं देखता हुआ ( अयं लोकः ) यह अज्ञ प्राणिवृन्द ( न मे शत्रुः ) न मेरा शत्रु है ( न च प्रियः ) और न मित्र है तथा ( मां ) मेरे आत्म स्वरूपको ( प्रपश्यन् ) देखता हुआ ( अयं लोकः ) यह प्रबुद्ध-प्राणिगण ( न मे शत्रुः ) न मेरा शत्रु है ( न च प्रियः ) और न मित्र है।

**भावार्थ**—आत्मज्ञानी विचारता है कि शत्रु-मित्रकी कल्पना परिचित व्यक्तिमें ही होती है—अपरिचित व्यक्तिमें नहीं। ये संसारके बेचारे अज्ञप्राणी जो मुझे देखते जानते ही नहीं—मेरा आत्मस्वरूप जिनके चर्म-चक्षुओंके अगोचर है—वे मेरे विषयमें शत्रु-मित्रकी कल्पना कैसे कर सकते हैं? और जो मेरे स्वरूपको जानते हैं—मेरे शुद्धात्मस्वरूप साक्षात् अनुभव करते हैं—उनके रागद्वेषका अभाव हो जानेसे शत्रु-मित्रताके भावकी उत्पत्ति नहीं बनती, फिर वे मेरे शत्रु या मित्र कैसे बन सकते हैं? इस तरह अज्ञ और विज्ञ दोनों ही प्रकारके जीव मेरे शत्रु या मित्र नहीं हैं॥ २६॥

अन्तरात्मनो बहिरात्मत्वत्यागे परमात्मप्राप्तौ चोपायत्वं दर्शयन्नाह—

**त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।**
**भावयेत्परमात्मानं सर्वसंकल्पवर्जितम् (तः) ॥२७॥**

**टीका**—एवमुक्तप्रकारेणान्तरात्मव्यवस्थितः सन् बहिरात्मानं त्यक्त्वा परमात्मानं भावयेत्। कथंभूतं? सर्वसंकल्पवर्जितं विकल्पजालरहितं अथवा सर्वसंकल्पवर्जितः सन् भावयेत् ॥२७॥

बहिरात्मपनेका त्याग होने पर अन्तरात्माके परमात्मपदकी प्राप्तिका उपाय बतलाते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( एवं ) इस प्रकार ( बहिरात्मानं ) बहिरात्मपनेको ( त्यक्त्वा ) छोड़कर ( अंतरात्मव्यवस्थितः ) अंतरात्मामें स्थित होते हुए ( सर्वसंकल्पवर्जितं ) सर्वसंकल्प-विकल्पोंसे रहित ( परमात्मानं ) परमात्माको ( भावयेत् ) ध्याना चाहिए।

**भावार्थ**—बहिरात्मावस्थाको अत्यंत हेय ( त्यागने योग्य ) समझकर छोड़ देना चाहिये और आत्मस्वरूपका ज्ञायक अन्तरात्मा होकर जगत्के दंद-फंद चिंता आदिसे मुक्त हुआ आत्मोत्थ स्वाधीन सुखकी प्राप्तिके लिये परमात्माके चिंतन आराधन पूर्वक तद्रूप बननेकी भावना करनी चाहिये॥ २७॥

तद्भावनायाः फलं दर्शयन्नाह—

**सोऽहमित्यात्तसंस्कारस्तस्मिन् भावनया पुनः ।**
**तत्रैव दृढसंस्काराल्लभते ह्यात्मनि[1] स्थितिम् ॥२८॥**

**टीका**—सोऽनन्तज्ञानात्मकः प्रसिद्धः परमात्मा **सोऽहमित्येवमात्तसंस्कारः** आत्तो गृहीतः संस्कारो वासना येन । कया कस्मिन् ? **भावनया तस्मिन्** परमात्मनि भावनया सोऽहमित्यभेदाभ्यासेन । **पुनरित्यन्तर्गभितवीप्सार्थः** । पुनः पुनस्तस्मिन् भावनया । **तत्रैव** परमात्मन्येव **दृढसंस्कारात्** अविचलवासनावशात् । **लभते** प्राप्नोति ध्याता । हि स्फुटम् । **आत्मनि स्थितिं** आत्मन्यचलतां अनन्तज्ञानादि-चतुष्टयरूपतां वा ॥२८॥

**अन्वयार्थ**—( तस्मिन् ) उस परमात्मपदमें ( भावनया ) भावना करते रहनेसे ( सः अहं ) 'वह अनन्तज्ञानस्वरूप परमात्मा मैं हूँ' ( इति ) इस प्रकारके ( आत्तसंस्कारः ) संस्कारको प्राप्त हुआ ज्ञानी पुरुष ( पुनः ) फिर फिर उस परमात्मपदमें आत्मस्वरूपकी भावना करता हुआ ( तत्रैव ) उसी परमात्मस्वरूपमें ( दृढसंस्कारात् ) संस्कारकी दृढताके हो जानेसे ( हि ) निश्चयसे ( आत्मनि ) अपने शुद्ध चैतन्यस्वरूपमें ( स्थितिं लभते ) स्थिरताको प्राप्त होता है ।

**भावार्थ**—जब 'सोऽहम्'की दृढ भावना द्वारा परमात्मपदके साथ जीवात्माकी एकत्व बुद्धि हो जाती है तभी इस जीवको अपनी अनन्त-चतुष्टयरूप निधिका परिज्ञान हो जाता है और वह अपनेको वीतरागी परमआनन्दस्वरूप मानने लगता है । उस समय काल्पनिक क्षणिक सांसा-रिक सुखके कारण बाह्यपदार्थोमें उसका ममत्व छूट जाता है, रागद्वेष की मंदता हो जाती है और अभेदबुद्धिसे परमात्मस्वरूपका चिंतवन करते-करते आत्मा अपने आत्मस्वरूपमें स्थिर हो जाता है । इसीको आत्मलाभ कहते हैं, जिसके फलस्वरूप आत्मा अनन्तकाल तक निराकुल अनुपम स्वाधीन सुखका भोक्ता होता है । अतः 'सोऽहम्' की यह भावना बड़ी ही उपयोगी है, उसके द्वारा अपने आत्मामें परमात्मपदके संस्कार डालने चाहिये ॥ २८ ॥

नन्वात्मभावनाविषये कष्टपरम्परासद्भावेन भयोत्पत्तेः कथं कस्यचित्तत्र प्रवृत्तिरित्याशङ्कां निराकुर्वन्नाह—

---

१. ह्यात्मनः इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ ।

**मूढात्मा यत्र विश्वस्तस्ततो नान्यद्भयास्पदम् ।**
**यतो भीतस्ततो नान्यदभयस्थानमात्मनः ॥२९॥**

**टीका—मूढात्मा** बहिरात्मा । **यत्र** शरीरपुत्रकलत्रादिषु । **विश्वस्तोऽवं**-चकाभिप्रायेण विश्वासं प्रतिपन्नः—**मदीया** येते अहमेतेषामिति बुद्धिं गत इत्यर्थः । **ततो नान्यद्भयास्पदं** ततः शरीरादेर्नान्यद्भयास्पदं संसारदुःखत्रासस्यास्पदं स्थानम् । **यतो भीतः** परमात्मस्वरूपसंवेदनाद्भीतः त्रस्तः । **ततो नान्यदभयस्थानं** ततः स्वसंवेदनात् नान्यत् अभयस्य संसारदुःखत्रासाभावस्य स्थानमास्पदम् । सुखास्पदं ततो नान्यदित्यर्थः ॥२९॥

यदि कोई आशंका करे कि परमात्माकी भावना करना तो बड़ा कठिन कार्य है, उसमें तो कष्ट परम्पराके सद्भावके कारण भय बना रहता है, फिर जीवोंकी प्रवृत्ति उसमें कैसे हो सकती है ? ऐसी आशंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( मूढात्मा ) अज्ञानी बहिरात्मा ( यत्र ) जिन शरीर-पुत्रमित्रादि बाह्यपदार्थोंमें ( विश्वस्तः ) 'ये मेरे हैं, मैं इनका हूँ' ऐसा विश्वास करता है ( ततः ) उन शरीर-स्त्री-पुत्रादि बाह्यपदार्थोंसे ( अन्यत् ) और कोई ( भयास्पदं न ) भयका स्थान नहीं है और ( यतः ) जिस परमात्मस्वरूपके अनुभवसे ( भीतः ) डरा रहता है ( ततः अन्यत् ) उसके सिवाय दूसरा ( आत्मनः ) आत्माके लिये ( अभयस्थानं न ) निर्भयताका स्थान नहीं है ।

**भावार्थ**—जैसे सर्पसे डसा हुआ मनुष्य कड़ुवा नीम भी रुचिसे चबाता है उसी प्रकार विषय-कषायोंमें संलग्न हुए जीवको दुःखदाई शरीरादिक बाह्यपदार्थ भी मनोहर एवं सुखदाई मालूम होते हैं और पित्तज्वर वाले रोगीको जिस प्रकार मधुर दुग्ध कड़ुवा मालूम होता है उसी प्रकार बहिरात्मा अज्ञानी जीवको सुखदाई परमात्मस्वरूपकी भावना भी कष्टप्रद मालूम पड़ती है और इसी विपरीत बुद्धिके कारण यह जीव अनादिकालसे दुखी हो रहा है । वास्तवमें इस जीवके लिए परमात्मस्वरूपके अनुभवके समान और कोई भी सुखदाई पदार्थ संसारमें नहीं है और न शरीरके समान दुखदाई कोई दूसरा पदार्थ ही है ॥ २९ ॥

तस्यात्मनः कीदृशः प्रतिपत्त्युपाय इत्याह—

**सर्वेन्द्रियाणि संयम्य स्तिमितेनान्तरात्मना ।**
**यत्क्षणं पश्यतो भाति तत्तत्त्वं परमात्मनः ॥३०॥**

**टीका**—**संयम्य** स्वविषये गच्छन्ति निरुध्य । कानि ? **सर्वेन्द्रियाणि** पञ्चापीन्द्रियाणि । तदनन्तरं **स्तिमितेन** स्थिरीभूतेन । **अन्तरात्मना** मनसा । **यत्स्वरूपं भाति** । किं कुर्वतः ? **क्षणं पश्यतः** क्षणमात्रमनुभवतः बहुतरकालं मनसा स्थिरीकर्तुमशक्यत्वात् स्तोककालं मनो निरोधं कृत्वा पश्यतो यच्चिदानन्दस्वरूपं प्रतिभाति **तत्तत्त्वं** तद्रूपं तत्त्वं स्वरूपं **परमात्मनः** ॥ ३० ॥

अब उस आत्माकी प्राप्ति किस उपायसे होती है उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( सर्वेन्द्रियाणि ) सम्पूर्ण पांचों इन्द्रियोंको ( संयम्य ) अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर ( स्तिमितेन ) स्थिर हुए ( अन्तरात्मना ) अन्तःकरणके द्वारा ( क्षणं पश्यतः ) क्षणमात्रके लिए अनुभव करने वाले जीवके ( यत् ) जो चिदानन्दस्वरूप ( भाति ) प्रतिभासित होता है। ( तत् ) वही ( परमात्मनः ) परमात्माका (तत्त्वं) स्वरूप है।

**भावार्थ**—परमात्माका अनुभव प्राप्त करनेके लिए स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन पाँचों इन्द्रियोंको अपने-अपने विषयोंमें यथेष्ट प्रवृत्ति करनेसे रोककर मनको स्थिर करना चाहिये। अर्थात् उसे अन्तर्जल्पादिरूप संकल्प-विकल्पसे मुक्त करना चाहिये। ऐसा होनेपर जो अन्तरंगावलोकन किया जावेगा उसीसे शुद्ध चैतन्यमय परमात्मस्वरूपका अनुभव हो सकेगा। इन्द्रियों द्वारा ज्ञेयपदार्थोंमें भ्रमती हुई चित्तवृत्तिको रोके बिना कुछ भी नहीं बनता। अतः आत्मानुभवके लिए उसे रोकनेका सबसे पहले प्रयत्न होना चाहिये ॥ ३० ॥

कस्मिन्नाराधिते तत्स्वरूपंप्राप्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

**यः परात्मा स एवाऽहं योऽहं स परमस्ततः ।**
**अहमेव मयोपास्यो नान्यः[1] कश्चिदिति स्थितिः ॥३१॥**

**टीका**—**यः** प्रसिद्धः **पर** उत्कृष्ट **आत्मा स एवाहं** । **योऽहं** यः स्वसंवेदनेन प्रसिद्धोऽहमन्तरात्मा **स परमः** परमात्मा । **ततो** यतो मया सह परमात्मनोऽभेदस्ततोऽ**हमेव** मया उपास्य आराध्यः । **नान्यः** कश्चिन्मयोपास्य **इति स्थितिः** । **एवं** स्वरूप एवाराध्याराधकभावव्यवस्था ॥ ३१ ॥

अब यह बतलाते हैं कि परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति किसकी आराधना करने पर होगी—

**अन्वयार्थ**—( यः ) जो ( परात्मा ) परमात्मा है ( स एव ) वह ही ( अहं ) मैं हूं तथा ( यः ) जो स्वानुभवगम्य ( अहं ) मैं हूं ( सः ) वही

---

1. 'नान्यः' इति पाठान्तर 'ग' प्रती।

( परमः ) परमात्मा है ( ततः ) इसलिये—जब कि परमात्मा और आत्मामें अभेद है ( अहं एव ) मैं ही ( मया ) मेरे द्वारा ( उपास्यः ) उपासना किये जानेके योग्य हूँ ( कश्चित् अन्यः न ) दूसरा कोई मेरा उपास्य नहीं, ( इति स्थितिः ) इस प्रकार ही आराध्य-आराधक—भाव-की व्यवस्था है।

**भावार्थ**—जब यह अन्तरात्मा अपनेको सिद्ध समान शुद्ध, बुद्ध, ज्ञाता, दृष्टा, अनुभव करता हुआ अभेद—भावनाके बल पर शुद्ध आत्म-स्वरूपमें तन्मय हो जाता है तभी वह कर्मबन्धनको नष्ट करके परमात्मा बन जाता है। अतएव सांसारिक दुःखोंसे छूटने अथवा दृढ़-बंधनसे मुक्त होनेके लिए अपना शुद्धात्मस्वरूप ही उपासना किये जानेके योग्य है ॥ ३१ ॥

एतदेव दर्शयन्नाह—

**प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं मां मयैव मयि स्थितम् ।**
**बोधात्मानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिर्वृतम् ॥३२॥**

**टीका**—मामात्मानमहं प्रपन्नः प्राप्तोऽस्मि भवामि। किं कृत्वा ? **प्रच्याव्य** व्यावर्त्य केभ्यः ? **विषयेभ्यः**। केन कृत्वा ? **मयैवात्मस्वरूपेणैव करणात्मना**। क्व स्थितं मां प्रपन्नोऽहं ? **मयि स्थितं आत्मस्वरूप एव स्थितम्**। कथम्भूतं मां ? **बोधात्मानं** ज्ञानस्वरूपम्। पुनरपि कथम्भूतम् ? **परमानन्दनिर्वृतं** परमश्चासावा-नन्दश्च सुखं तेन निर्वृतं सुखीभूतम्। अथवा **परमानन्दनिर्वृतोऽहम्** ॥ ३२ ॥

आगे इसी बातको और भी स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अहं ) मैं ( मयि स्थितम् ) अपनेहीमें स्थित ज्ञानस्वरूप ( परमानन्दनिर्वृतम् ) परम आनन्दसे परिपूर्ण ( मां ) अपनी आत्माको ( विषयेभ्यः ) पंचेन्द्रियोंके विषयोंसे ( प्रच्याव्य ) छुड़ाकर ( मया एव ) अपने ही द्वारा ( प्रपन्नोऽस्मि ) आत्मस्वरूपको प्राप्त हुआ हूँ।

**भावार्थ**—जिस परमात्मपदके प्राप्त करनेकी अभिलाषा है वह शक्तिरूपसे इस आत्मामें ही मौजूद है; किन्तु उसकी व्यक्ति अथवा प्राप्ति इन्द्रिय-विषयोंसे विरक्त होकर ज्ञान और वैराग्यका सुदृढ़ अभ्यास करने-से होती है। इसलिए हमें चाहिए कि हम जीवन्मुक्त परमात्माके दिव्य उपदेशका मनन करके उसके नक्शेक़दम पर चलें और उन जैसी वीतराग-ध्यानमयी शांत-मुद्रा बनकर चैतन्य जिनप्रतिमा बननेकी कोशिश करें तथा उनकी सौम्याकृतिरूप प्रतिबिम्बका चित्र अपने हृदय-पटल पर

अंकित करें। इस तरह आत्मस्वरूपके साधक कारणोंको उपयोगमें लाकर स्वयं ही परमात्मपद प्राप्त करें और निजानन्द-रसका पान करते हुए अनन्तकाल तक अनन्त सुखमें मग्न रहें ॥ ३२ ॥

एवमात्मानं शरीराद्भिन्नं यो न जानाति तं प्रत्याह—

**यो न वेत्ति परं देहादेवमात्मानमव्ययम् ।**
**लभते स न निर्वाणं तप्त्वाऽपि परमं तपः ॥३३॥**

टीका—यः प्रतिपन्नाद् **देहात्परं** भिन्नमात्मानमेवमुक्तप्रकारेण **न वेत्ति** । किं विशिष्टम् ? **अव्ययं** अपरित्यक्तानन्तचतुष्टयस्वरूपम् । **स** प्रतिपन्नात्मा **निर्वाणं लभते** । किं कृत्वा ? **तप्त्वाऽपि** । किं तत् ? **परमं तपः** ॥ ३३ ॥

इस प्रकार जो शरीरसे आत्माको भिन्न नहीं जानता है उसके प्रति कहते हैं :—

**अन्वयार्थ**—( एवं ) उक्त प्रकारसे ( यः ) जो ( अव्ययं ) अविनाशी ( आत्मानं ) आत्माको ( देहात् ) शरीरसे ( परं न वेत्ति ) भिन्न नहीं जानता है ( सः ) वह ( परमं तपः तप्त्वापि ) घोर तपश्चरण करके भी ( निर्वाणं ) मोक्षको ( न लभते ) प्राप्त नहीं करता है।

**भावार्थ**—संसारमें दुःखका मूल कारण आत्मज्ञानका अभाव है। जब तक यह अज्ञान बना रहता है तब तक दुःखोंसे छुटकारा नहीं मिलता। इसी कारण जो पुरुष आत्माके वास्तविक स्वरूपको नहीं पहचानता—विनश्वर पुद्गल पिण्डमय शरीरको ही आत्मा जानता है—वह कितना ही घोर तपश्चरण क्यों न करे, मुक्तिको नहीं पा सकता है; क्योंकि मुक्तिके लिए जिससे मुक्त होना है और जिसको मुक्त होना है दोनोंका भेदज्ञान आवश्यक है। जब मूलमें ही भूल हो तब तपश्चरण क्या सहायता पहुँचा सकता है। ऐसे ही लोगोंकी मुक्ति-उपासना बहुधा अन्य बाह्य पदार्थोंकी तरह सांसारिक विषय सुखका ही साधन बन जाती है और इसीलिए घोरातिघोर तपश्चरण द्वारा शरीरको अनेक प्रकारसे कष्ट देते और सुखाते हुए भी वे कर्मबन्धनसे छूट नहीं पाते, प्रत्युत अपने उस बाल तपश्चरणके कारण संसारमें ही परिभ्रमण करते रहते हैं। अतः आत्मज्ञानपूर्वक तपश्चरण करना ही सार्थक और सिद्धिका कारण है। किसी कविने ठीक कहा—

चेतन चित परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ ।
कण बिन तुष जिम फटकतैं, कछु न आवै हत्थ ॥ ३३ ॥

ननु परमतपोऽनुष्ठायिनां महादुःखोत्पत्तितो मनः खेदसद्भावात्कथं निर्वाण-प्राप्तिरिति वदन्तं प्रत्याह—

**आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ।**
**तपसा दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि न खिद्यते ॥३४॥**

**टीका**—आत्मा च देहश्च तयोरन्तरज्ञानं भेदज्ञानं तेन जनितश्चासावाल्हादश्च परमप्रसत्तिस्तेन निर्वृतः सुखीभूतः सन् **तपसा** द्वादशविधेन कृत्वा । **दुष्कृतं घोरं भुञ्जानोऽपि** दुष्कर्मणो रौद्रस्य विपाकमनुभवन्नपि **न खिद्यते** न खेदं गच्छति ॥३४॥

यदि कोई आशंका करे कि मुक्तिके लिए घोर तपश्चरण करने वालोंके महादुःखोंको उत्पत्ति होती है और उस दुःखोत्पत्तिसे चित्तमें बराबर खेद बना रहता है तब उनको मुक्तिकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उत्तरमें कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( आत्मदेहांतरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः ) आत्मा और शरीरके भेद-विज्ञानसे उत्पन्न हुए आनन्दसे जो आनन्दित है वह (तपसा) तपके द्वारा—द्वादश प्रकारके तपद्वारा उदयमें लाये हुए ( **घोरं दुष्कृतं** ) भयानक दुष्कर्मोंके फलको (भुन्जानः अपि) भोगता हुआ भी (न खिद्यते) खेदको प्राप्त नहीं होता है ।

**भावार्थ**—जिस समय इस जीवके अनुभवमें शरीर और आत्मा भिन्न-भिन्न दिखाई देने लगते हैं, उस समय शारीरिक विषय-सुखोंके लिये पर-पदार्थकी सारी चिन्तायें मिट जाती हैं, उसके फलस्वरूप आत्मा परमा-नन्दमें लीन हो जाता है—उसे दुखका अनुभव ही नहीं होता । क्योंकि संसारमें इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग, रोग और भूख-प्यासादिजन्य जितने भी दुःख हैं वे सब शरीरके आश्रित हैं—शरीरको आत्मा माननेसे उन सब दुखोंमें भाग लेना पड़ता है । जब भेद विज्ञानके द्वारा शरीरसे ममत्व छूटकर आत्मा स्वरूपमें स्थिर हुआ आनन्दमग्न हो जाता है तब वह तपश्चरणके कष्टोंको महसूस नहीं करता और न तपश्चरणके अवसर पर आए हुए उपसर्गादिकोंसे खेदखिन्न ही होता है । उसका आनन्द अबाधित रहता है ॥ ३४ ॥

खेदं गच्छतामात्मस्वरूपोपलम्भाभावं दर्शयन्नाह—

**रागद्वेषादिकल्लोलैरलोलं यन्मनो जलम् ।**
**स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं स तत्त्वं[1] नेतरो जनः ॥३५॥**

---

१. तत्तत्त्वं, इति पाठान्तरं 'क' पुस्तके ।

**टीका**—रागद्वेषादय एव कल्लोलास्तैरलोलमचञ्चलमकलुषं वा । **यन्मनोजलं** मन एव जलं मनोजलं यस्य मनोजलम् यन्मनोजलम् । स आत्मा । **पश्यति** । **आत्मनस्तत्त्वमा**त्मनः स्वरूपम् । **स तत्त्वम्** । स आत्मदर्शी तत्त्वं परमात्मस्वरूपम् । **नेतरो जनः** रागादि परिणतः [ अन्यः अनात्मदर्शी जनः ] तत्त्वं न भवति ॥३५॥

जिन्हें तपश्चरण करते हुए खेद होता है उन्हें आत्मस्वरूपकी उप-लब्धि नहीं हुई ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यन्मनोजलम् ) जिसका मनरूपी जल ( राग-द्वेषादि-कल्लोलैः ) राग-द्वेष-काम-क्रोध-मान-माया-लोभादि तरंगोंसे ( अलोलं ) चंचल नहीं होता ( सः ) वही पुरुष ( आत्मनः तत्त्वम् ) आत्माके यथार्थ स्वरूपको ( पश्यति ) देखता है—अनुभव करता है—( तत् तत्त्वम् ) उस आत्मतत्त्वको ( इतरो जनः ) दूसरा राग द्वेषादि कल्लोलोंसे आकुलितचित्त मनुष्य ( न पश्यति ) नहीं देख सकता है ।

**भावार्थ**—जिस प्रकार तरंगित जलमें जलस्थित वस्तुका ठीक प्रति-भास नहीं होता—वह दिखाई नहीं देती, उसी प्रकार राग-द्वेषादि-कल्लोलोंसे आकुलित हुए सविकल्प मनद्वारा आत्माका दर्शन नहीं होता । आत्मदर्शनके लिए मनको निर्विकल्प बनाना होगा । वास्तवमें निर्विकल्प मन ही आत्मतत्त्व है—सविकल्प मन नहीं ॥ ३५ ॥

किं पुनस्तत्त्वशब्देनोच्यत इत्याह—

**अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं, विक्षिप्तं भ्रान्तिरात्मनः ।**
**धारयेत्तदविक्षिप्तं विक्षिप्तं नाश्रयेत्ततः ॥३६॥**

**टीका**—**अविक्षिप्तं** रागाद्यपरिणतं, देहादिनाऽऽत्मनोऽभेदाध्यवसायपरिहारेण स्वस्वरूप एव निश्चलतां गतम् । इत्थंभूतं **मनः तत्त्वं** वास्तवं रूपमात्मनः । **विक्षिप्तं** उक्तविपरीतं मनो **भ्रान्तिरात्मस्वरूपं** न भवति । यत एवं तस्मात् **धारयेत्** किं तत् ? मनः । कथम्भूतम् ? **अविक्षिप्तं** । **विक्षिप्तं** पुनस्तत् **नाश्रयेन्न** धारयेत् ॥३६॥

आगे इसी आत्मतत्त्वके वाच्यको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अविक्षिप्तं ) रागादिपरिणतिसे रहित तथा शरीर और आत्माको एक माननेरूप मिथ्या अभिप्रायसे रहित जो स्वरूपमें स्थिर है ( मनः ) वही मन है ( आत्मनः तत्त्वं ) आत्माका वास्तविक रूप है और ( विक्षिप्तं ) रागादिरूप परिणत हुआ एवं शरीर तथा

आत्माके भेदज्ञानसे शून्यमन है वह ( आत्मनः भ्रान्तिः ) आत्माका विभ्रम है--आत्माका निजरूप नहीं है ( ततः ) इसलिये ( तत् अविक्षिप्तं ) उस रागद्वेषादिसे रहित मनको ( आश्रयेत् ) आश्रय करना चाहिये और ( विक्षिप्तं ) रागद्वेषादिसे क्षुब्ध हुए मनको ( न आश्रयेत् ) आश्रय नहीं देना चाहिये।

**भावार्थ**—जिस समय ज्ञानस्वरूप शुद्ध मन, रागादिक विभावभावोंसे रहित होकर शरीरादिक बाह्य पदार्थोंसे आत्माको भिन्न चैतन्यमय एक टंकोत्कीर्ण ज्ञायक स्वभावरूप अनुभव करने लगता है तथा उसमें तन्मय हो जाता है, उस समय उस अविक्षिप्त एवं निर्विकल्प मनको 'आत्म-तत्त्व' समझना चाहिये। परन्तु जब उसमें विकल्प उठने लगते हैं तब उसे आत्मतत्त्व न कहकर 'आत्मभ्रान्ति' कहना चाहिये। अतः आत्म लाभके इच्छुकोंको चाहिये कि वे अपने मनको डाँवाडोल न रखकर स्वरूपमें स्थिर करनेका दृढ़ प्रयत्न करें, क्योंकि मनकी अस्थिरता ही रागादि परिणतिका कारण है ॥ ३६ ॥

कुतः पुनर्मनसो विक्षेपो भवति कुतश्चाविक्षेप इत्याह—

**अविद्याभ्याससंस्कारैरवशं क्षिप्यते मनः।**
**तदेव ज्ञानसंस्कारैः स्वतस्तत्त्वेऽवतिष्ठते ॥३७॥**

**टीका**—शरीरादौ शुचिस्थिरात्मीयादिज्ञानान्यविद्यास्तासामभ्यासः पुनः पुनः प्रवृत्तिस्तेन जनिताः संस्कारा वासनास्तैः कृत्वा। अवशं विषयेन्द्रियाधीनमनात्मायत्तमित्यर्थः। क्षिप्यते विक्षिप्तं भवति मनः। तदेव मनः ज्ञानसंस्कारैरात्मनः शरीरादिभ्यो भेदज्ञानाभ्यासैः। स्वतः स्वयमेव। तत्त्वे आत्मस्वरूपे अवतिष्ठते ॥३७॥

किस कारणसे मन विक्षिप्त होता है और किस कारणसे अविक्षिप्त, आगे इसी बातको बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अविद्याभ्याससंस्कारैः ) शरीरादिकको शुचि, स्थिर और आत्मीय मानने रूप जो अविद्या अज्ञान है उसके पुनः-पुनः प्रवृत्ति-रूप अभ्याससे उत्पन्न हुए संस्कारों द्वारा (मनः) मन (अवशं) स्वाधीन न रहकर ( क्षिप्यते ) विक्षिप्त हो जाता है—रागी द्वेषी बन जाता है और ( तदेव ) वही मन ( ज्ञानसंस्कारैः ) आत्म-देहके भेद विज्ञानरूप संस्कारों-द्वारा ( स्वतः ) स्वयं ही ( तत्त्वे ) आत्मस्वरूपमें (अवतिष्ठते) स्थिर हो जाता है।

**भावार्थ**—मनके विक्षिप्त होनेका वास्तविक कारण अज्ञान है और उसके अविक्षिप्त रहनेका कारण है ज्ञानाभ्यास। अतः परद्रव्यमें आत्म-बुद्धि आदिरूप अज्ञानके संस्कारोंको हटाना चाहिये और स्व-पर-भेद-विज्ञानके अभ्यासरूप ज्ञानके संस्कारोंको बढ़ाना चाहिये जिससे स्वरूप-की उपलब्धि एवं आत्मस्वरूपमें स्थिति हो सके ॥ ३७ ॥

चित्तस्य विक्षेपेऽविक्षेपे च फलं दर्शयन्नाह—

**अपमानादयस्तस्य विक्षेपो यस्य चेतसः ।**

**नापमानादयस्तस्य न क्षेपो यस्य चेतसः ॥३८॥**

**टीका**—अपमानो महत्त्वखंडनं अवज्ञा च स आदिर्येषां मदेर्ष्यामात्सर्यादीनां ते **अपमानादयो** भवन्ति। **यस्य चेतसो विक्षेपो** रागादिपरिणतिर्भवति। **यस्य पुन-श्चेतसो न क्षेपो** विक्षेपो नास्ति। **तस्य नापमानादयो** भवन्ति ॥३८॥

चित्तके विक्षिप्त और अविक्षिप्त होने पर फल विशेषको दर्शाते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यस्य चेतसः ) जिसके चित्तका ( विक्षेपः ) रागादिरूप परिणमन होता है ( तस्य ) उसीके ( अपमानादयः ) अपमानादिक होते हैं। ( यस्यचेतसः ) जिसके चित्तका ( क्षेपः न ) राग-द्वेषादिरूप परिणमन नहीं होता ( तस्य ) उसके ( अपमानादयः न ) अपमान-तिरस्कारादि नहीं होते हैं।

**भावार्थ**—जब तक चित्तमें रागद्वेषादिक विभावरूप कुत्सित संस्कारों-का सम्बन्ध रहता है तभी तक मन साधारणसे भी बाह्य निमित्तोंको पाकर क्षुभित हो जाता है और अमुक पुरुषने मेरा मान भंग किया, अमुकने मेरा तिरस्कार किया, मुझे नीचा दिखाया इत्यादि कल्पनाएँ करके दुःखित होता है। परन्तु जब विक्षेपका मूलकारण राग-द्वेष-मोह-भाव दूर हो जाता है तब वह अपने अपमानादिकको महसूस नहीं करता और न उस प्रकारकी कल्पनाएँ ही उसे सताती हैं ॥ ३८ ॥

अपमानादीनां चापगमे उपायमाह—

**यदा मोहात्प्रजायेते रागद्वेषौ तपस्विनः ।**

**तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात् ॥३९॥**

**टीका**—मोहान्मोहनीयकर्मोदयात्। **यदा प्रजायेते** उत्पद्येते। कौ? **राग-द्वेषौ**। कस्य? **तपस्विनः**। **तदैव** रागद्वेषोदयकाल एव। **आत्मानं स्वस्थं** बाह्य-विषयाद्व्यावृत्तस्वरूपस्थं **भावयेत्**। **शाम्यतः** उपशमं गच्छतः। रागद्वेषौ। **क्षणात्** क्षणमात्रेण ॥३९॥

अब अपमानादिकके दूर करनेका उपाय बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यदा ) जिस समय ( तपस्विनः ) किसी तपस्वी अन्तरात्माके ( मोहात् ) मोहनीय कर्मके उदयसे ( रागद्वेषौ ) राग और द्वेष ( प्रजायेते ) उत्पन्न हो जावें ( तदा एव ) उसी समय वह तपस्वी ( स्वस्थं आत्मानं ) अपने शुद्ध आत्मस्वरूपकी ( भावयेत् ) भावना करे। इससे वे रागद्वेषादिक ( क्षणात् ) क्षणभरमें ( शाम्यतः ) शांत हो जाते हैं।

**भावार्थ**—इन राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया और लोभादिरूप कुभावोंकी उत्पत्तिका मूल कारण अज्ञान है। शरीर और आत्माका भेद-विज्ञान न होनेसे ही ये मनोविकार चित्तकी निश्चल वृत्तिको चलायमान कर देते हैं। कुभावोंके विनाशका एकमात्र उपाय आत्मस्वरूपका चिंतन करना है। जैसे ग्रीष्मकालीन सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके तापसे संतप्त हुए मानव के लिए शीतल जलका पान, स्नान, चन्दनादिकका लेप और वृक्षकी सघन छायाका आश्रय उसके उस तापको दूर करनेमें समर्थ होता है, उसी प्रकार मोहरूपी सूर्यकी प्रचण्ड कषायरूपी किरणोंसे संतप्त हुए अन्तरात्माके लिये अपने शुद्ध स्वरूपका चिंतन ही उस तापसे छुड़ानेका एकमात्र उपाय है॥ ३९॥

तत्र रागद्वेषयोर्विषयं विपक्षं च दर्शयन्नाह—

> **यत्र काये मुनेः प्रेम ततः प्रच्याव्य देहिनम्।**
> **बुद्ध्या तदुत्तमे काये योजयेत्प्रेम नश्यति ॥४०॥**

**टीका**—यत्रात्मीये परकीये वा काये वा शरीरेन्द्रियविषयसंघाते। मुनेः प्रेम स्नेहः। ततः तस्मात् प्रच्याव्य व्यावर्त्य। देहिनं आत्मानम्। कया? बुद्ध्या विवेकज्ञानेन। पश्चात्तदुत्तमे काये तस्मात् प्रागुक्तकायादुत्तमे चिदानन्दमये। काये आत्मस्वरूपे। योजयेत्। कया कृत्वा? बुद्ध्या अन्तर्दृष्ट्या। ततः किं भवति? प्रेम नश्यति कायस्नेहो न भवति॥४०॥

अब उन राग और द्वेषके विषय तथा विपक्षको दिखाते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यत्र काये ) जिस शरीरमें ( मुनेः ) मुनिका—अन्तरात्माका ( प्रेम ) प्रेम-स्नेह है ( ततः ) उससे ( बुद्ध्या ) भेद विज्ञानके आधार पर ( देहिनम् ) आत्माको ( प्रच्याव्य ) पृथक् करके ( तदुत्तमे-काये ) उस उत्तम चिदानन्दमय कायमें—आत्मस्वरूपमें ( योजयेत् )

लगावे। ऐसा करनेसे ( प्रेम नश्यति ) बाह्य शरीर और इन्द्रियविषयोंमें होने वाला प्रेम नष्ट हो जाता है।

**भावार्थ**—जब तक इस जीवको अपने निजानन्दमय निराकुल शांत उपवनमें क्रीड़ा करनेका अवसर नहीं मिलता, तब तक ही यह जीव अस्थि, मांस और मल-मूत्रसे भरे हुए अपावन घृणित स्त्री आदिके शरीरमें और पाँच इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त रहता है; किन्तु जब दर्शनमोहादिके उपशम, क्षय, क्षयोपशमसे इसके चित्तमें विवेकज्ञान जागृत हो जाता है तब स्वपर स्वरूपका ज्ञायक होकर अपने ही प्रशान्त एवं निजानन्दमय सुधारसका पान करने लगता है और बाह्य इन्द्रियोंके पराधीन विषयोंको हेय समझकर उदासीन हो जाता है अथवा उनका सर्वथा त्यागकर निर्ग्रंथ साधु बन जाता है और घोर तपश्चरणादिके द्वारा आत्माकी वास्तविक शुद्धि करके सच्चे स्वाधीन एवं अविनाशी आत्मपदको प्राप्त कर लेता है ॥ ४० ॥

तस्मिन्नष्टे किं भवतीत्याह—

**आत्मविभ्रमजं दुःखमात्मज्ञानात्प्रशाम्यति ।**
**नाऽयतास्तत्र निर्वान्ति कृत्वापि परमं तपः ॥४१॥**

**टीका**—**आत्मविभ्रमजं** आत्मनो विभ्रमोऽनात्मशरीरादावात्मेति ज्ञानं। तस्माज्जातं यत् **दुःखं** तत्**प्रशाम्यति**। कस्मात्? **आत्मज्ञानात्** शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपवेदनात्। ननु दुर्धरतपोऽनुष्ठानान्मुक्तिसिद्धेरेतस्तद्दुःखोपशमो न भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—नेत्यादि। **तत्र** आत्मस्वरूपे **अयताः** अयत्नपराः। **न निर्वान्ति** न निर्वाणं गच्छन्ति सुखिनो वा न भवन्ति। **कृत्वापि** तप्त्वाऽपि। किं तत्? **परमं तपः** दुर्द्धरानुष्ठानम् ॥४१॥

उस भ्रमात्मक प्रेमके नष्ट होनेपर क्या होता है उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( आत्मविभ्रजं ) शरीरादिकमें आत्मबुद्धिरूप विभ्रमसे उत्पन्न होने वाला ( दुःखं ) दुख-कष्ट ( आत्मज्ञानात् ) शरीरादिसे भिन्नरूप आत्मस्वरूपके अनुभव करनेसे ( प्रशाम्यति ) शांत हो जाता है। अतएव जो पुरुष ( तत्र ) भेदविज्ञानके द्वारा आत्मस्वरूपकी प्राप्ति करनेमें ( अयताः ) प्रयत्न नहीं करते वे ( परमं ) उत्कृष्ट एवं दुर्द्धर ( तपं ) तपको ( कृत्वापि ) करके भी ( न निर्वान्ति ) निर्वाणको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते हैं।

**भावार्थ**—कर्मबन्धनसे छूटनेके लिए आत्मज्ञानपूर्वक किया हुआ

इच्छानिरोधरूप तपश्चरण ही कार्यकारी है। आत्मज्ञानसे शून्य केवल शरीरको कष्ट देने वाले तपश्चरण तपश्चरण नहीं है—संसारपरिभ्रमण-के ही कारण हैं। उनसे आत्मा कभी भी कर्मोंके बन्धनसे छूट नहीं सकता और न स्वरूपमें स्थिर हो सकता है। उसकी कष्ट-परम्परा बढ़ती ही चली जाती है ॥ ४१ ॥

तच्च कुर्वाणो बहिरात्मा अन्तरात्मा च किं करोतीत्याह—

**शुभं शरीरं दिव्यांश्च विषयानभिवाञ्छति ।**
**उत्पन्नाऽऽत्ममतिर्देहे तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम् ॥४२॥**

**टीका**—देहे उत्पन्नात्ममतिर्बहिरात्मा। **अभिवाञ्छति** अभिलषति। किं तत् ? **शुभं शरीरं**। **दिव्यांश्च** उत्तमान् स्वर्गसम्बन्धिनो वा विषयान् अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—**तत्त्वज्ञानी ततश्च्युतिम्**। तत्त्वज्ञानी विवेकी अन्तरात्मा। **ततः** शरीरादेः। **च्युतिं** व्यावृत्तिं मुक्तिरूपां अभिवाञ्छति ॥४२॥

तपको करके बहिरात्मा क्या चाहता है और अन्तरात्मामें क्या चाहता है, इसे दिखाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( देहे उत्पन्नात्ममतिः ) शरीरमें जिसको आत्मत्वबुद्धि उत्पन्न हो गई है ऐसा बहिरात्मा तप करके ( शुभं शरीरं च ( सुन्दर शरीर और ( दिव्यान् विषयान् ) उत्तमोत्तम अथवा स्वर्गके विषय भोगों-को ( अभिवांच्छति ) चाहता है और ( तत्त्वज्ञानी ) ज्ञानी अन्तरात्मा ( ततः ) शरीर और तत्सम्बन्धी विषयोंसे ( च्युतिम् ) छूटना चाहता है।

**भावार्थ**—अज्ञानी बहिरात्मा स्वर्गादिककी प्राप्तिको ही परमपदकी प्राप्ति समझता है और इसीलिए स्वर्गादिकके मिलनेकी लालसासे पंचाग्नि आदि शरीरको क्लेश देनेवाले तप करता है। प्रत्युत इसके, आत्मज्ञानी अन्तरात्माकी ऐसी धारणा नहीं होती, वह सांसारिक विषय-भोगोंमें अपना स्वार्थ नहीं देखता—उन्हें दुखदाई और कष्टकर जानता है—और इसलिए इन देहभोगोंसे ममत्व छोड़कर दुर्धर तपश्चरण करता हुआ शरीरादिकसे आत्माको भिन्न करनेका परम यत्न करता है—तपश्चरण-के द्वारा इन्द्रिय और कषायोंपर विजय पाकर अपने ध्येयकी सिद्धि कर लेता है ॥ ४२ ॥

तत्त्वज्ञानीतरयोर्बन्धकत्वाबन्धकत्वे दर्शयन्नाह—

**परत्राहम्मतिः स्वस्माच्च्युतो बध्नात्यसंशयम् ।**
**स्वस्मिन्नहम्मतिश्च्युत्वा परस्मान्मुच्यते बुधः ॥४३॥**

टीका—परत्र शरीरादौ अहम्मतिरात्मबुद्धिर्बहिरात्मा। स्वस्मादात्मस्वरूपात्। च्युतो भ्रष्टः सन्। बध्नाति कर्मबन्धनबद्धं करोत्यात्मानं। असंशयं यथा भवति तथा नियमेन बध्नातीत्यर्थः। स्वस्मिन्नात्मस्वरूपे अहम्मतिः बुद्धोऽन्तरात्मा। परस्माच्छरीरादेः च्युत्वा पृथग्भूत्वा। मुच्यते सकलकर्मबन्धरहितो भवति ॥४३॥

अब यह बतलाते हैं कि बहिरात्मा और अन्तरात्मामें कर्मबन्धनका कर्ता कौन है ?—

**अन्वयार्थ**—( परत्राहम्मतिः ) शरीरादिक परपदार्थोंमें जिसकी आत्मबुद्धि हो रही है ऐसा बहिरात्मा ( स्वस्मात् ) अपने आत्मस्वरूपसे ( च्युतः ) भ्रष्ट हुआ ( असंशयम् ) निःसन्देह ( बध्नाति ) अपनेको कर्म बन्धनसे बद्ध करता है और ( स्वस्मिन्नहम्मतिः ) अपने आत्माके स्वरूपमें ही आत्मबुद्धि रखनेवाला ( बुधः ) अन्तरात्मा ( परस्मात् ) शरीरादिक परके सम्बन्धसे ( च्युत्वा ) च्युत होकर ( मुच्यते ) कर्म बन्धनसे छूट जाता है।

**भावार्थ**—बंधका कारण वास्तवमें रागादिकभाव है और वह तभी बनता है जब आत्मा अपने स्वरूपका ठीक अनुभव नहीं करता—उसे भूल कर शरीरादिक पर-पदार्थोंमें आत्मबुद्धि धारण करता है। अन्तरात्मा चूँकि अपने आत्मस्वरूपका ज्ञाता होता है इससे वह अपने आत्मासे भिन्न दूसरे पदार्थोंमें आत्मबुद्धि धारण नहीं करता—फलतः उसकी पर-पदार्थोंमें कोई आसक्ति नहीं होती। इसीसे वह कर्मोंके बंधनसे नहीं बँधता, किन्तु उससे छूट जाता है ॥ ४३ ॥

यत्राहम्मतिर्बहिरात्मनो जाता तत्तेन कथमध्यवसीयते ? यत्र चान्तरात्मनस्तत्तेन कथमित्याशंक्याह—

**दृश्यमानमिदं मूढस्त्रिलिङ्गमवबुध्यते ।**
**इदमित्यवबुद्धस्तु निष्पन्नं शब्दवर्जितम् ॥४४॥**

टीका—दृश्यमानं शरीरादिकं। किं विशिष्टं ? त्रिलिङ्गं त्रीणि स्त्रीपुंनपुंसकलक्षणानि लिङ्गानि यस्य तत् दृश्यमानं त्रिलिङ्गं सत्। मूढो बहिरात्मा। इदमात्मतत्त्वं त्रिलिङ्गं मन्यते दृश्यमानादभेदाध्यवसायेन। यः पुनरवबुद्धोऽन्तरात्मा स इदमात्मतत्त्वमित्येवं मन्यते। न पुनस्त्रिलिङ्गतया। तस्याः शरीरधर्मतया आत्मस्वरूपत्वाभावात्। कथम्भूतमिदमात्मस्वरूपं ! निष्पन्नमनादिसंसिद्धम् तथा शब्दवर्जितं विकल्पाभिधानागोचरम् ॥४४॥

बहिरात्माको जिस पदार्थमें आत्मबुद्धि हो गई है उसे वह कैसा मानता है और अन्तरात्माको जिसमें आत्मबुद्धि उत्पन्न हो गई है उसे वह कैसा अनुभव करता है, आगे इसी आशंकाका निरसन करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( मूढः ) अज्ञानी बहिरात्मा ( इदं दृश्यमानं ) इस दिखाई देनेवाले शरीरको ( त्रिलिंगं अवबुध्यते ) स्त्री-पुरुष-नपुंसकके भेदसे यह आत्मतत्त्व त्रिलिङ्ग रूप है ऐसा मानता है; किन्तु ( अवबुद्धः ) आत्मज्ञानी अन्तरात्मा ( इदं ) यह आत्मतत्त्व है—त्रिलिङ्गरूप आत्मतत्त्व नहीं है वह ( निष्पन्नं ) अनादि संसिद्ध है तथा ( शब्दवर्जितम् ) नामादिक विकल्पोंसे रहित है ( इति ) ऐसा समझता है।

**भावार्थ**—अज्ञानी जीवको शरीरसे भिन्न आत्माकी प्रतीति नहीं होती, इसलिए वह स्त्री-पुरुष-नपुंसकरूप त्रिलिङ्गात्मक शरीरको ही आत्मा मानता है। सम्यग्दृष्टि वस्तुस्वरूपका ज्ञाता है और उसे शरीरसे भिन्न चैतन्यस्वरूप आत्मतत्त्वकी प्रतीति होती है, इसलिये वह अपने आत्माको तद्रूप ही अनुभव करता—त्रिलिङ्गरूप नहीं—और उसे अनादिसिद्ध तथा—निर्विकल्प समझता है ॥ ४४ ॥

ननु यद्यन्तरात्मैवात्मानं प्रतिपद्यते तदा कथं पुमानहं गौरोऽहमित्यादिरूपं, तस्य कदाचिदभेदभ्रांतिः स्यात् इति वदन्तं प्रत्याह—

**जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं विविक्तं भावयन्नपि ।**
**पूर्वविभ्रमसंस्कारात् भ्रांतिं भूयोऽपि गच्छति ॥४५॥**

**टीका**—आत्मनस्तत्त्वं स्वरूपं जानन्नपि । तथा विविक्तं शरीरादिभ्योभिन्नं भावयन्नपि उभयत्राऽपिशब्दः, परस्परसमुच्चये । भूयोऽपि पुनरपि । भ्रांतिं गच्छति । कस्मात् ? पूर्वविभ्रमसंस्कारात् पूर्वविभ्रमो बहिरात्मावस्थाभावी शरीरादौ स्वात्मविपर्यासस्तेन जनितः संस्कारो वासना तस्मात् ॥४५॥

यदि कोई कहे कि जब अन्तरात्मा इस तरहसे आत्माका अनुभव करता है तो फिर मैं पुरुष हूं, गोरा हूं इत्यादि अभेदरूपकी भ्रान्ति उसे कैसे हो जाती है ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—अन्तरात्मा ( आत्मनः तत्त्वं ) अपने आत्माके शुद्ध चैतन्य स्वरूपको ( जानन् अपि ) जानता हुआ भी ( विविक्तं भावयन् अपि ) और शरीरादिक अन्य पर पदार्थोंसे भिन्न अनुभव करता हुआ भी ( पूर्वविभ्रमसंस्कारात् ) पहली बहिरात्मावस्थामें होनेवाले भ्रान्तिके संस्कारवश ( भूयोऽपि ) पुनरपि ( भ्रांतिं गच्छति ) भ्रान्तिको प्राप्त हो जाता है।

**भावार्थ**—यद्यपि अन्तरात्मा अपने आत्माके यथार्थस्वरूपको जानता है और उसे शरीरादिक पर-द्रव्योंसे भिन्न अनुभव भी करता है। फिर भी बहिरात्मावस्थाके चिरकालीन संस्कारोंके जागृत हो उठनेके कारण कभी-कभी बाह्य पदार्थोंमें उसे एकत्वका भ्रम हो जाता है। इसीसे अन्तरात्मा सम्यग्दृष्टिके ज्ञान-चेतनाके साथ कदाचित् कर्म-चेतना व कर्मफल-चेतना-का भी सद्भाव माना गया है ॥ ४५ ॥

भूयो भ्रान्ति गतोऽसौ कथं मां त्यजेदित्याह—

**अचेतनमिदं दृश्यमदृश्यं चेतनं ततः ।**
**क्व रुष्यामि क्व तुष्यामि मध्यस्थोऽहं भवाम्यतः ॥४६॥**

**टीका**—**इदं** शरीरादिकं दृश्यमिन्द्रियैः प्रतीयमानं । **अचेतनं** जडं रोषतोषा-दिकं कृतं न जानातीत्यर्थः **यच्चेतनमात्मस्वरूपं तददृश्यमिन्द्रियग्राह्यं** न भवति । **ततः** यतो रोषतोषविषयं दृश्यं शरीरादिकमचेतनं **चेतनं** स्वात्मस्वरूपमदृश्यत्वात्त-द्विषयमेव न भवति ततः **क्व रुष्यामि क्व** तुष्याम्यहं । अतः यतो रोषतोषयोः कश्चिदपि विषयो न घटते **अतः मध्यस्थः** उदासीनोऽहं **भवामि** ॥४६॥

पुनः भ्रांतिको प्राप्त हुआ अन्तरात्मा उस भ्रांतिको फिर कैसे छोड़े ? इसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—अन्तरात्मा तब अपनी विचार परिणतिको इस रूप करे कि ( इदं दृश्यं ) यह जो दृष्टिगोचर होनेवाला पदार्थ समूह है वह सबका सब ( अचेतनं ) चेतनारहित–जड़ है और जो ( चेतनं ) चैतन्यरूप आत्मसमूह है वह ( अदृश्यं ) इन्द्रियोंके द्वारा दिखाई नहीं पड़ता ( ततः ) इसलिए ( क्व रुष्यामि ) मैं किसपर तो क्रोध करूँ और ( क्व तुष्यामि ) किसपर सन्तोष व्यक्त करूँ ? ( अतः अहं मध्यस्थः भवामि ) ऐसी हालतमें मैं तो अब रागद्वेषके परित्यागरूप मध्यस्थभावको धारण करता हूँ ।

**भावार्थ**—अन्तरात्माको अपने अनाद्यविद्यारूप भ्रान्त संस्कारों पर विजय प्राप्त करनेके लिए सदा ही यह विचार करते रहना चाहिए कि जिन पदार्थोंको मैं इन्द्रियोंके द्वारा देख रहा हूँ वे सब तो जड़ हैं—चेतना रहित हैं उन पर रोष-तोष करना व्यर्थ है—वे उसे कुछ समझ ही नहीं सकते—और जो चैतन्य पदार्थ हैं वे मुझे दिखाई नहीं पड़ते, वे मेरे रोष-तोषका विषय हो नहीं हो सकते । अतः मुझे किसीसे राग-द्वेष न रखकर मध्यस्थ भावका ही अवलम्बन लेना चाहिये ॥ ४६ ॥

इदानीं मूढात्मनोऽन्तरात्मनश्च त्यागोपादानविषयं प्रदर्शयन्नाह—

**त्यागादाने बहिर्मूढः करोत्यध्यात्ममात्मवित् ।**
**नान्तर्बहिरुपादानं न त्यागो निष्ठितात्मनः ॥४७॥**

**टीका**—**मूढः** बहिरात्मा त्यागादाने करोति । क्व ? **बहिर्बाह्ये** हि वस्तुनि द्वेषोदयादभिलाषाभावान्मूढात्मा त्यागं करोति । रागोदयात्तत्राभिलाषोत्पत्तेरुपादानमिति । **आत्मवित्** अन्तरात्मा पुनरध्यात्मं स्वात्मरूप एव त्यागादाने करोति । तत्र हि त्यागो रागद्वेषादेरन्तर्जल्पविकल्पादेर्वा । स्वीकारश्चिदानन्दादेः । यस्तु निष्ठितात्मा कृतकृत्यात्मा तस्य **अन्तर्बहिर्वा नोपादानं** तथा न **त्यागोऽन्तर्बहिर्वा** ॥४७॥

अब बहिरात्मा और अन्तरात्माके त्याग ग्रहण विषयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( मूढः ) मूर्ख बहिरात्मा ( बहिः ) बाह्य पदार्थोंका ( त्यागादाने करोति ) त्याग और ग्रहण करता है अर्थात् द्वेषके उदयसे जिनको अनिष्ट समझता है उनको छोड़ देता है और रागके उदयसे जिन्हें इष्ट समझता है उनको ग्रहण कर लेता है तथा ( आत्मवित् ) आत्माके स्वरूपका ज्ञाता अन्तरात्मा ( अध्यात्मं त्यागादाने करोति ) अन्तरंग राग-द्वेषका त्याग करता है और अपने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप निजभावोंका ग्रहण करता है । परन्तु (निष्ठतात्मनः) शुद्ध स्वरूपमें स्थित जो कृतकृत्य परमात्मा है उसके ( अन्तः बहिः ) अंतरंग और बहिरंग किसी भी पदार्थका ( न त्यागः ) न तो त्याग होता है और ( न उपादानं ) न ग्रहण होता है ।

**भावार्थ**—बहिरात्मा जीव मोहोदयसे जिन बाह्य पदार्थोंमें इष्ट-अनिष्टकी कल्पना करता है उन्हींमें त्याग और ग्रहणकी क्रिया किया करता है । अन्तरात्मा वस्तुस्थितिका जानने वाला होकर वैसा नहीं करता—वह बाह्य पदार्थोंसे अपनी चित्तवृत्तिको हटाकर अन्तरंगमें ही त्याग-ग्रहणकी प्रवृत्ति किया करता है—रागादि कषाय भावोंको छोड़ता है और अपने शुद्ध चैतन्यरूपको अपनाता है । परन्तु परमात्माके कृत-कृत्य हो जानेके कारण, बाह्य हो या अंतरंग, किसी भी विषयमें त्याग और ग्रहणकी प्रवृत्ति नहीं होती । वे तो अपने शुद्ध स्वरूपमें सदा स्थिर रहते हैं ॥ ४७ ॥

अन्तस्त्यागोपादाने वा कुर्वाणोऽन्तरात्मा कथं कुर्यादित्याह—

**युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं वाक्कायाभ्यां वियोजयेत् ।**
**मनसा व्यवहारं तु त्यजेद्वाक्काययोजितम् ॥४८॥**

**टीका**—आत्मानं **युञ्जीत** सम्बद्धं कुर्यात् । केन सह ? **मनसा** मानसज्ञानेन चित्तमात्मेत्यभेदेनाध्यवसेदित्यर्थः । **वाक्कायाभ्यां** तु पुनर्वियोजयेत् पृथक्कुर्यात् वाक्काययोरात्माभेदाध्यवसायं न कुर्यादित्यर्थः । एतच्च कुर्वाणो व्यवहारं तु प्रतिपाद्य प्रतिपादकभावलक्षणं प्रवृत्तिनिवृत्तिरूपं वा । **वाक्काययोजितं** वाक्कायाभ्यां योजितं सम्पादितं । केन सह ? **मनसा** सह मनस्यारोपितं **व्यवहारं मनसा त्यजेत्** चित्तेन न चिन्तयेत् ॥४८॥

अन्तरात्मा अन्तरंगका त्याग और ग्रहण किस प्रकार करे, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( आत्मानं ) आत्माको (मनसा) मनके साथ (युञ्जीत) संयोजित करे-चित्त और आत्माका अभेदरूपसे अध्यवसाय करे ( वाक्कायाभ्यां ) वचन और कायसे ( वियोजयेत् ) अलग करे—उन्हें आत्मा न समझे ( तु ) और ( वाक्काययोजितम् ) वचन-कायसे किये हुए ( व्यवहारं ) व्यवहारको ( मनसा ) मनसे ( त्यजेत् ) छोड़ देवे—उसमें चित्तको न लगावे ।

**भावार्थ**—अन्तरंग रागादिकका त्याग और आत्मगुणोंका ग्रहण करनेके लिये आत्माको चाहिये, कि वह आत्माको मानसज्ञानके साथ तन्मय करे और वचन तथा कायके सर्वकार्योंको छोड़कर आत्मचिन्तनमें तल्लीन हो जावे । यदि प्रयोजनवश वचन और कायकी क्रिया करनी भी पड़े तो उसे उदासीनभावके साथ अरुचि-पूर्वक कड़वी दवाई पीनेवाले रोगीकी तरह अनासक्तिसे करे ॥ ४८ ॥

ननु पुत्रकलत्रादिना सह वाक्कायव्यवहारे तु सुखोत्पत्तिः प्रतीयते कथं तत्त्यागो युक्त इत्याह—

**जगद्देहात्मदृष्टीनां विश्वास्यं रम्यमेव च ।**
**स्वात्मन्येवात्मदृष्टीनां क्व विश्वासः क्व वा रतिः ॥४९॥**

**टीका**—**देहात्मदृष्टीनां** बहिरात्मनां **जगत्** पुत्रकलत्रादिप्राणिगणो **विश्वास्यमवञ्चकं । च रम्यमेव** रमणीयमेव प्रतिभाति । **स्वात्मन्येव** स्वस्वरूपे एवात्मदृष्टीनां अन्तरात्मनां **क्व विश्वासः क्व वा रतिः** ? न क्वापि पुत्रकलत्रादौ तेषां विश्वासो रतिर्वा प्रतिभातीत्यर्थः ॥४९॥

यदि कोई कहे कि पुत्र, स्त्री आदिके साथ वचनव्यवहार और शरीर-व्यवहार करते हुए तो सुख प्रतीत होता है, फिर उस व्यवहारका त्याग करना कैसे युक्तियुक्त कहा जा सकता है ? उसका समाधान करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—(देहात्मदृष्टीनां) शरीरमें आत्मदृष्टि रखने वाले मिथ्या-दृष्टि बहिरात्माओंको (जगत्) यह स्त्री-पुत्र मित्रादिका समूहरूप संसार (विश्वास्यं) विश्वासके योग्य (च) और (रम्यं एव) रमणीय ही मालूम पड़ता है। परन्तु ( स्वात्मनि एव आत्मदृष्टीनां ) अपने आत्मामें ही आत्मदृष्टि रखने वाले सम्यग्दृष्टि अन्तरात्माओंको (क्व विश्वासः) इन स्त्रीपुत्रादि परपदार्थोंमें कहाँ विश्वास हो सकता है (वा) और (क्व रतिः) कहाँ आसक्ति हो सकती है ? कहीं भी नहीं।

**भावार्थ**—जब तक अपने परमानन्दमय चैतन्य स्वरूपका बोध न होकर इन संसारी जीवोंकी देहमें आत्मबुद्धि बनी रहती है तब तक इन्हें यह स्त्री-पुत्रादिका समूह अपनेको आत्मस्वरूपसे वंचित रखनेवाला ठग समूह प्रतीत नहीं होता, किन्तु विश्वसनीय, रमणीय और उपकारी जान पड़ता है। परन्तु जिन्हें आत्माका परिज्ञान होकर अपने आत्मामें ही आत्मबुद्धि उत्पन्न हो जाती है उनकी दशा इनसे विपरीत होती है—वे इन स्त्रीपुत्रादिको "आत्मरूपके चोर चपल अति दुर्गति-पन्थ सहाई" समझने लगते हैं—किसीको भी अपना आत्मसमर्पण नहीं करते और न किसीमें आसक्त ही होते हैं ॥ ४९ ॥

नन्वेवमाहारादावप्यन्तरात्मनः कथं प्रवृत्तिः स्यादित्याह—

**आत्मज्ञानात्परं कार्यं न बुद्धौ धारयेच्चिरम् ।**

**कुर्यादर्थवशात्किंचिद्वाक्कायाभ्यामतत्परः ॥५०॥**

**टीका**—**चिरं** बहुतरं कालं **बुद्धौ न धारयेत्**। किं तत् ? **कार्यं**। कथम्भूतम् ? **परमन्यत्**। कस्मात् ? **आत्मज्ञानात्**। आत्मज्ञानलक्षणमेव कार्यं बुद्धौ चिरं धार-येदित्यर्थः परमपि **किञ्चित्** भोजनव्याख्यानादिकं **वाक्कायाभ्यां** **कुर्यात्**। कस्मात् ? **अर्थवशात्** स्वपरोपकारलक्षणप्रयोजनवशात्। किंविशिष्टः ? **अतत्प-रस्तदनासक्तः** ॥५०॥

यदि ऐसा है तो फिर अन्तरात्माको भोजनादिके ग्रहणमें प्रवृत्ति कैसे हो सकती है ? इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—अन्तरात्माको चाहिये कि वह (आत्मज्ञानात्परं) आत्म-ज्ञानसे भिन्न दूसरे (कार्यं) कार्यको ( चिरं ) अधिक समय तक ( बुद्धौ )

अपनी बुद्धिमें (न धारयेत्) धारण नहीं करे। यदि (अर्थवशात्) स्व-परके उपकारादिरूप प्रयोजनके वश (वाक्कायाभ्यां) वचन और कायसे (किंचित् कुर्यात्) कुछ करना ही पड़े तो उसे (अतत्परः) अनासक्त होकर (कुर्यात्) करे।

**भावार्थ**—आत्महितके इच्छुक अन्तरात्मा पुरुषोंको चाहिये कि वे अपने उपयोगको इधर-उधर न भ्रमाकर अपना अधिक समय आत्म-चिन्तनमें ही लगावें। यदि स्व-परके उपकारादिवश उन्हें वचन और कायसे कोई कार्य करना ही पड़े तो उसे अनासक्ति पूर्वक करें—उसमें अपने चित्तको अधिक न लगावें। ऐसा करनेसे वे अपने आत्मस्वरूपसे च्युत नहीं हो सकेंगे और न उनकी शान्ति ही भंग हो सकेगी ॥ ५० ॥

तदनासक्तः कुतः पुनरात्मज्ञानमेव बुद्धौ धारयेन्न शरीरादिकमित्याह—

**यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे नास्ति यन्नियतेन्द्रियः ।**
**अतः पश्यामि सानन्दं तदस्तु ज्योतिरुत्तमम् ॥५१॥**

**टीका**—**यच्छरीरादिकमिन्द्रियैः पश्यामि तन्मे नास्ति** मदीयं रूपं तन्न भवति। तर्हि किं मम रूपम्? **तदस्तु ज्योतिरुत्तमं** ज्योतिर्ज्ञानमुत्तममतीन्द्रियम्। तथा **सानन्दं** परमप्रसत्तिसमुद्भूतसुखसमन्वितम्। एवंविधं **ज्योतिरन्तः पश्यामि** स्वसंवेदनेनानुभवामि यत्तन्मे स्वरूपमस्तु भवतु किंविशिष्टः **पश्यामि? नियतेन्द्रियो** नियन्त्रितेन्द्रियः ॥५१॥

अनासक्त हुआ अन्तरात्मा आत्मज्ञानको ही बुद्धिमें धारण करे—शरीरादिकको नहीं, यह कैसे हो सकता है? उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—अन्तरात्माको विचारना चाहिये कि (यत्) जो कुछ शरीरादि बाह्य पदार्थ (इन्द्रियैः) इन्द्रियोंके द्वारा (पश्यामि) मैं देखता हूँ। (तत्) वह (मे) मेरा स्वरूप (नास्ति) नहीं है, किन्तु (नियतेन्द्रियः) इन्द्रियोंको बाह्य विषयोंसे रोककर स्वाधीन करता हुआ (यत्) जिस (उत्तमं) उत्कृष्ट अतीन्द्रिय (सानन्दं ज्योतिः) आनन्दमय ज्ञान प्रकाशको (अन्तः) अंतरंगमें (पश्यामि) देखता हूँ—अनुभव करता हूँ (तत् मे) वही मेरा वास्तविक स्वरूप (अस्तु) होना चाहिये।

**भावार्थ**—जब अन्तरात्मा भेदज्ञानकी दृष्टिसे इन्द्रियगोचर बाह्य शरीरादि पदार्थोंको अपना रूप नहीं मानता किन्तु उस परमानन्दमय अतीन्द्रिय ज्ञानप्रकाशको ही अपना स्वरूप समझने लगता है जिसे वह इन्द्रिय व्यापारको रोककर अन्तरंगमें अवलोकन करता है, तब उसका

मन सहज ही में शरीरादि बाह्य पदार्थोंसे छूट जाता है—वह उनको आराधना नहीं करता किंतु अपने उक्त स्वरूपका ही आराधन किया करता है—उसीको अधिकांशमें अपनी बुद्धिका विषय बनाये रखता है ॥ ५१ ॥

ननु सानन्दं ज्योतिर्यद्यात्मनो रूपं स्यात्तदेन्द्रियनिरोधं कृत्वा तदनुभवतः कथं दुःखं स्यादित्याह—

**सुखमारब्धयोगस्य बहिर्दुःखमथाऽऽत्मनि ।**
**बहिरेवाऽसुखं सौख्यमध्यात्मं भावितात्मनः ॥ ५२ ॥**

**टीका**—**बहिर्**बाह्यविषये **सुखं** भवति । कस्य ? **आरब्धयोगस्य** प्रथममात्मस्वरूपभावनोद्यतस्य । **अथ** आहो । **आत्मनि** आत्मस्वरूपे **दुःखं** तस्य भवति । **भावितात्मनो** यथावद्विदितात्मस्वरूपे कृताभ्यासस्य । **बहिरेव** बाह्यविषयेष्वेव **असुखं** भवति । अथ आहो । सौख्यं **अध्यात्मं** तस्याध्यात्मस्वरूप एव भवति ॥ ५२ ॥

यदि आनन्दमय ज्ञान ही आत्माका स्वरूप है तो इन्द्रियोंको रोककर आत्मानुभव करने वालेको दुःख कैसे होता है, वह बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( आरब्धयोगस्य ) जिसने आत्मभावनाका अभ्यास करना अभी शुरु किया है उस मनुष्यको—अपने पुराने संस्कारोंकी वजहसे ( बहिः ) बाह्य विषयोंमें ( सुखं ) सुख मालूम होता है ( अथ ) प्रत्युत इसके ( आत्मनि ) आत्मस्वरूपकी भावनामें ( दुःखं ) दुःख प्रतीत होता है। किन्तु ( भावितात्मनः ) यथावत् आत्मस्वरूपको जानकर उसकी भावनाके अच्छे अभ्यासीको ( बहिः एव ) बाह्य विषयोंमें ही ( असुखं ) दुःख जान पड़ता है और ( अध्यात्मं ) अपने आत्माके स्वरूप-चिंतनमें ही ( सौख्यम् ) सुखका अनुभव होता है ।

**भावार्थ**—वास्तवमें आत्मानुभव तो सुखका ही कारण है और इन्द्रिय-विषयानुभव दुःखका; परन्तु जिन्हें अपने आत्माका यथेष्ट ज्ञान नहीं हुआ, जो अपने वास्तविक सुखस्वरूपको पहचानते ही नहीं और जिन्होंने आत्मभावनाका अभ्यास अभी प्रारंभ ही किया है उन्हें अपने इन्द्रिय-विषयोंको निरोधकर आत्मानुभवन करनेमें कुछ कष्ट जरूर होता है और पूर्व संस्कारोंके वश विषय-सुख रुचता भी है, जो बहुत कुछ स्वाभाविक ही है । आत्माकी भावना करते-करते जब किसीका अभ्यास परिपक्व हो जाता है और यह सुदृढ़ निश्चय हो जाता है कि सुख मेरे आत्माका ही स्वरूप है—वह आत्मासे बाहर दूसरे पदार्थोंमें कहीं भी नहीं

है, तब उसकी हालत पलट जाती है—वह अपने आत्मस्वरूपके चिन्तन-में ही परमसुखका अनुभव करने लगता है और उसे बाह्य इन्द्रिय-विषय दुःखकारी तथा आत्मविस्मृतिके कारण जान पड़ते हैं, और इसलिए वह उनसे अलग अथवा अलिप्त रहना चाहता है ॥५२॥

तद्भावनां चेत्थं कुर्यादित्याह—

**तद् ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदिच्छेत्तत्परो भवेत् ।**
**येनाऽविद्यामयं रूपं त्यक्त्वा विद्यामयं व्रजेत् ॥ ५३ ॥**

**टीका**—**तत्** आत्मस्वरूपं **ब्रूयात्** परं प्रतिपादयेत् । तदात्मस्वरूपं **परान्** विदितात्मस्वरूपान् **पृच्छेत्** । तथा तदात्मस्वरूपं **इच्छेत्** परमार्थतः सन् मन्यते । **तत्परो भवेत्** आत्मस्वरूपभावनातत्परो भवेत् । **येनात्मस्वरूपेणेत्थं भावितेन** । **अविद्यामयं** स्वरूपं बहिरात्मस्वरूपम् । **त्यक्त्वा विद्यामयं रूपं** परमात्मस्वरूपं **व्रजेत्** ॥ ५३ ॥

अब वह आत्मस्वरूपकी भावना किस तरह करनी चाहिये उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( तद् ब्रूयात् ) उस आत्मस्वरूपका कथन करे—उसे दूसरोंको बतलावे ( तत् परान् पृच्छेत् ) उस आत्मस्वरूपको दूसरे आत्मानुभवी पुरुषोंसे—विशेष ज्ञानियोंसे—पूछे ( तत् इच्छेत् ) उस आत्म-स्वरूपकी इच्छा करे—उसकी प्राप्तिको अपना इष्ट बनाये और ( तत्परः भवेत् ) उस आत्मस्वरूपकी भावनामें सावधान हुआ आदर बढ़ावे ( येन ) जिससे ( अविद्यामयं रूपं ) यह अज्ञानमय बहिरात्मरूप ( त्यक्त्वा ) छूटकर ( विद्यामयं व्रजेत् ) ज्ञानमय परमात्मस्वरूपकी प्राप्ति होवे ।

**भावार्थ**—किसीका इकलौता प्रियपुत्र यदि खो जावे अथवा बिना कहे घरसे निकल जावे तो वह मनुष्य जिस प्रकार उसकी ढूंढ खोज करता है, दूसरोंपर उसके खोजानेकी बात प्रकट करता है, जानकारोंसे पूछता है कि कहीं उन्होंने उसे देखा है क्या ? उसे पा जानेकी तीव्र इच्छा रखता है और बड़ी उत्सुकताके साथ उसकी बाट देखता रहता है—एक मिनटके लिए भी उसका पुत्र उसके चित्तसे नहीं उतरता । उसी प्रकार आत्मस्वरूपके जिज्ञासुओं तथा उसकी प्राप्तिके इच्छुक पुरुषोंको चाहिये कि वे बराबर आत्मस्वरूपकी खोजके लिए दूसरोंसे आत्मस्वरूपकी ही बात किया करें, विशेष ज्ञानियोंसे आत्माकी विशे-

षताओंको पूछा करें, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिकी निरन्तर भावना भाएं और एक-मात्र उसीमें अपनी लौ लगाये रक्खें। ऐसा होनेपर उनकी अज्ञानदशा दूर हो जायगी—बहिरात्मावस्था मिट जायगी और वे परमात्मपदको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकेंगे ॥ ५३ ॥

ननु वाक्कायव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनोऽसम्भवात् "तद्ब्रूयादि" 'त्याद्ययुक्तमिति वदन्तं प्रत्याह—

**शरीरे वाचि चात्मानं सन्धत्ते वाक्शरीरयोः।**
**भ्रान्तोऽभ्रान्तः पुनस्तत्त्वं पृथगेषां निबुध्यते ॥ ५४ ॥**

टीका—**सन्धत्ते** आरोपयति। कं **आत्मानम्**। क्व ? **शरीरे वाचि च**। कोऽसौ ? मूढः **वाक्शरीरयोर्भ्रान्तो** वागात्मा शरीरमात्मेत्येवं विपर्यस्तो बहिरात्मा। तयोरभ्रान्तो यथावत्स्वरूपपरिच्छेदकोऽन्तरात्मा **पुनः** एषां वाक्शरीरात्मनां **तत्त्वं** स्वरूपं **पृथक्** परस्परभिन्नं निबुद्ध्यते निश्चिनोति ॥ ५४ ॥

यदि कोई कहे कि वाणी और शरीरसे भिन्न तो आत्माका कोई अलग अस्तित्व है नहीं, तब आत्माकी चर्चा करे—भावना करे इत्यादि कहना युक्त नहीं, ऐसी आशंका करने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( वाक् शरीरयोः भ्रान्तः ) वचन और शरीरमें जिसकी भ्रान्ति हो रही है—जो उनके वास्तविक स्वरूपको नहीं समझता ऐसा बहिरात्मा ( वाचि शरीरे च ) वचन और शरीरमें ( आत्मानं सन्धत्ते ) आत्माका आरोपण करता है अर्थात् वचनको तथा शरीरको आत्मा मानता है ( पुनः ) किन्तु ( अभ्रान्तः ) वचन और शरीरसे आत्माकी भ्रान्ति न रखनेवाला ज्ञानी पुरुष ( एषां तत्त्वं ) इन शरीर और वचनके स्वरूपको ( पृथक् ) आत्मासे भिन्न ( निबुध्यते ) जानता है।

**भावार्थ**—वास्तवमें शरीर और वचन पुद्गलकी रचना हैं, मूर्तिक हैं, जड हैं, आत्मस्वरूपसे विलक्षण हैं। इसमें आत्मबुद्धि रखना अज्ञान है। किन्तु बहिरात्मा चिर-मिथ्यात्वरूप कुसंस्कारोंके वश होकर इन्हें आत्मा समझता है, जोकि उसका भ्रम है। अन्तरात्माको जड और चैतन्यके स्वरूपका यथार्थ बोध होता है, इसीसे शरीरादिकमें उसकी आत्मपनेकी भ्रांति नहीं होती—वह शरीरको शरीर, वचनको वचन और आत्माको आत्मा समझता है, एकको दूसरेके साथ मिलाता नहीं ॥ ५४ ॥

एवमबुध्यमानो मूढात्मा येषु विषयेष्वासक्तचित्तो न तेषु मध्ये किञ्चित्तस्योपकारकमस्तीत्याह—

**न तदस्तीन्द्रियार्थेषु यत्क्षेमङ्करमात्मनः ।**
**तथापि रमते बालस्तत्रैवाज्ञानभावनात् ॥ ५५ ॥**

**टीका**—**इन्द्रियार्थेषु** पंचेन्द्रियविषयेषु मध्ये **न तत्किञ्चिदस्ति यत् क्षेमङ्कर**मुपकारकम् । कस्य ? **आत्मनः** । यद्यपि क्षेमङ्करं किञ्चिन्नास्ति । **तथापि रमते** रतिं करोति । कोऽसौ ? **बालो** बहिरात्मा **तत्रैव** इन्द्रियार्थेष्वेव । **कस्मात्** ? **अज्ञानभावनात्** मिथ्यात्वसंस्कारवशात् अज्ञानं भाव्यते जन्यते येनासावज्ञानभावको मिथ्यात्वसंस्कारस्तस्मात् ॥ ५५ ॥

इस प्रकार आत्मस्वरूपको न समझनेवाला बहिरात्मा जिन बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त होता है उनमें से कोई भी उसका उपकारक नहीं है, ऐसा कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( इन्द्रियार्थेषु ) पाँचों इन्द्रियोंके विषयमें ( तत् ) ऐसा कोई पदार्थ ( न अस्ति ) नहीं है ( यत् ) जो ( आत्मनः ) आत्माका ( क्षेमंकर ) भला करने वाला हो। ( तथापि ) तो भी ( बालः ) यह अज्ञानी बहिरात्मा ( अज्ञानभावनात् ) चिरकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश ( तत्रैव ) उन्हीं इन्द्रियोंके विषयोंमें ( रमते ) आसक्त रहता है।

**भावार्थ**—तत्त्वदृष्टिसे यदि विचार किया जाय तो ये पाँचों ही इन्द्रियोंके विषय क्षणभंगुर हैं, पराधीन हैं, विषम हैं, बंधके कारण हैं, दुःखस्वरूप हैं और बाधासहित हैं—कोई भी इनमें आत्माके लिये सुखकर नहीं, फिर भी यह अज्ञानी जीव उन्हींसे प्रीति करता है, उन्हींकी सम्प्राप्तिमें लगा रहता है और रात-दिन उन्हींका राग आलापता है। यह सब अज्ञानभावको उत्पन्न करने वाले मिथ्यात्व-संस्कारका ही माहात्म्य है ॥ ५५ ॥

तथा अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सत्येवम्भूता बहिरात्मानो भवन्तीत्याह—

**चिरं सुषुप्तास्तमसि मूढात्मानः कुयोनिषु ।**
**अनात्मीयात्मभूतेषु ममाहमिति जाग्रति ॥ ५६ ॥**

**टीका**—**चिरम**नादिकालं **मूढात्मानो** बहिरात्मानः **सुषुप्ता** अतीव जडतां गताः । केषु ? **कुयोनिषु** नित्यनिगोदादिचतुरशीतिलक्षयोनिष्वधिकरणभूतेषु । कस्मिन् सति ते सुषुप्ताः ? **तमसि** अनादिमिथ्यात्वसंस्कारे सति एवम्भूतास्ते

यदि संज्ञिषूत्पद्य कदाचिद्दैववशात् बुध्यन्ते तदा **ममाहमिति जाग्रति**। केषु? **अनात्मीयात्मभूतेषु**—अनात्मीयेषु परमार्थतोऽनात्मीयभूतेषु पुत्रकलत्रादिषु **ममैते** इति जाग्रति अध्यवस्यन्ति। **अनात्मभूतेषु** शरीरादिषु **अहमेवैते इति जाग्रति** अध्यवस्यन्ति ॥ ५६ ॥

उस अनादिकालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश बहिरात्माओंकी दशा किस प्रकारकी होती है, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( मूढात्मानः ) ये मूर्ख अज्ञानी जीव ( तमसि ) मिथ्यात्वरूपी अन्धकारके उदयवश ( चिरं ) अनादिकालसे ( कुयोनिषु ) नित्य-निगोदादिक कुयोनियोंमें ( सुषुप्ताः ) सो रहे हैं—अतीव जडताको प्राप्त हो रहे हैं। यदि कदाचित् संज्ञी प्राणियोंमें उत्पन्न होकर कुछ जागते भी हैं तो ( अनात्मीयात्मभूतेषु मम अहम् ) अनात्मीयभूत स्त्री-पुत्रादिकमें 'ये मेरे हैं' और अनात्मभूत शरीरादिकोंमें 'मैं ही इन रूप हूँ' ( इति जाग्रति ) ऐसा अध्यवसाय करने लगते हैं।

**भावार्थ**—नित्यनिगोदादिक निद्य पर्यायोंमें यह जीव ज्ञानकी अत्यन्त हीनता-वश चिरकाल तक दुःख भोगता है। कदाचित् संज्ञी पंचेन्द्रिय-पर्याय प्राप्त कर कुछ थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करता भी है तो अनादि-कालीन मिथ्यात्वके संस्कारवश जो आत्मीय नहीं ऐसे स्त्री-पुत्रादिकको ये मेरे हैं ऐसे आत्मीय मानकर और जो आत्मभूत नहीं ऐसे शरीरादि-को 'यह मैं ही हूँ' ऐसे आत्मभूत मानकर अहंकार ममकारके चक्करमें फँस जाता है और उसके फलस्वरूप राग-द्वेषको बढ़ाता हुआ संसार-परि-भ्रमणकर महादुःखित होता है ॥ ५६ ॥

ततो बहिरात्मस्वरूपं परित्यज्य स्वपरशरीरमित्थं पश्येदित्याह—

**पश्येन्निरंतरं देहमात्मनोऽनात्मचेतसा।**
**अपरात्मधियाऽन्येषामात्मतत्त्वे[1] व्यवस्थितः ॥ ५७ ॥**

**टीका**—आत्मनो देहमात्मसम्बन्धिशरीरं **अनात्मचेतसा** इदं ममात्मा न भवतीति बुद्ध्या अन्तरात्मा **पश्येत्**। **निरन्तरं** सर्वदा। तथा अन्येषां देहं परेषामात्मा न भवतीति बुद्ध्या पश्येत्। किं विशिष्टः? **आत्मतत्त्वे व्यवस्थितः** आत्म-स्वरूपनिष्ठः ॥५७॥

---

1. 'आत्मतत्त्वव्यवस्थितः' इति पाठान्तरं 'ग' प्रतौ।

अतः बहिरात्म-भावका परित्यागकर अपने तथा परके शरीरको इस रूपमें अवलोकन करे, ऐसा बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—अन्तरात्माको चाहिये कि ( आत्मतत्त्वे ) अपने आत्म-स्वरूपमें ( व्यवस्थितः ) स्थित होकर ( आत्मनः देहं ) अपने शरीरको ( अनात्मचेतसा ) 'यह शरीर मेरा आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे ( निरन्तरं पश्येत् ) सदा देखे-अनुभव करे और ( अन्येषां ) दूसरे प्राणियोंके शरीरको ( अपरात्मधिया ) 'यह शरीर परका आत्मा नहीं' ऐसी अनात्मबुद्धिसे ( पश्येत् ) सदा अवलोकन करे।

**भावार्थ**—अन्तरात्माको चाहिये कि पदार्थके स्वरूपको जैसाका तैसा जाने, अन्यमें अन्यका आरोपण न करे। अनादिकालसे आत्माकी शरीरके साथ एकत्वबुद्धि हो रही है, उसका मोह दूर होना कठिन जानकर आचार्य महोदय बार-बार अनेक युक्तियोंसे उसी बातको समझाकर बतलाते हैं—उनका अभिप्राय यही है कि संयुक्त होनेपर भी विवक्षा-भेदसे, पुद्गलको पुद्गल और आत्माको आत्मा समझना चाहिये तथा कर्मकृत औपाधिक भावोंको कर्मकृत ही मानना चाहिये। आत्माका किसी शरीररूप विभावपर्यायमें स्थिर होना उसकी कर्मोपाधि-जनित अवस्था है—स्वभाव नहीं। शरीरको आत्मा मानना, ग्रहको ग्रहवासी अथा वस्त्रको वस्त्रधारी माननेके समान भ्रम है ॥ ५७ ॥

नन्वेवमात्मतत्त्वं स्वयमनुभूय मूढात्मनां किमिति न प्रतिपाद्यते येन तेऽपि तज्जानन्त्विति वदन्तं प्रत्याह—

**अज्ञापितं न जानन्ति यथा मां ज्ञापितं तथा।**
**मूढात्मानस्ततस्तेषां वृथा मे ज्ञापनश्रमः ॥५८॥**

**टीका**—**मूढात्मानो मां** आत्मस्वरूपमज्ञापितमप्रतिपादितं **यथा न जानन्ति** मूढात्मत्वात्। **तथा ज्ञापितमपि** मां ते मूढात्मत्वादेव न जानन्ति। ततस्तेषां सर्वथा परिज्ञानाभावात्। तेषां मूढात्मनां सम्बन्धित्वेन **वृथा मे ज्ञापनश्रमो** विफलो मे प्रतिपादनप्रयासः ॥५८॥

इस प्रकार आत्मतत्त्वका स्वयं अनुभव करके ज्ञातात्म-पुरुष ( स्वानुभवमग्न अन्तरात्मा ) मूढात्माओं ( जड़बुद्धियों ) को आत्मतत्त्व क्यों नहीं बतलाते, जिससे वे भी आत्मस्वरूपके ज्ञायक बनें ऐसी आशंका करनेवालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—स्वात्मानुभवमग्न अन्तरात्मा विचारता है कि ( यथा ) जैसे ( मूढात्मानः ) ये मूर्ख अज्ञानी जीव ( अज्ञापितं ) बिना बताए हुए ( मां ) मेरे आत्मस्वरूपको ( न जानन्ति ) नहीं जानते हैं। ( तथा ) वैसे ही ( ज्ञापितं ) बतलाये जाने पर भी नहीं जानते हैं। ( ततः ) इसलिये ( तेषां ) उन मूढ़ पुरुषोंको ( मे ज्ञापनश्रमः ) मेरा बतलानेका परिश्रम ( वृथा ) व्यर्थ है, निष्फल है।

**भावार्थ**—जो ज्ञानी जीव अन्तर्मुखी होते हैं वे बाह्य विषयोंमें अपने चित्तको अधिक नहीं भ्रमाते—उन्हें तो अपने आत्माके चिन्तन और मननमें लगे रहना ही अधिक रुचिकर होता है। मूढ़ात्माओंके साथ आत्म-विषयमें मगज़-पच्ची करना उन्हें नहीं भाता। वे इस प्रकार जड़ात्माओंके साथ टक्कर मारनेके अपने परिश्रमको व्यर्थ समझते हैं और समझते हैं कि इस तरह मूढ़ात्माओंके साथ उलझे रहकर कितने ही ज्ञानीजन अपने आत्महित साधनसे वंचित रह जाते हैं। आत्महित साधन सर्वोपरि मुख्य है, उसे इधर-उधरके चक्करमें पड़कर भुलाना नहीं चाहिये ॥ ५८ ॥

किंच—

**यद् बोधयितुमिच्छामि तन्नाहं यदहं पुनः ।**
**ग्राह्यं तदपि नान्यस्य तत्किमन्यस्य बोधये ॥५९॥**

**टीका**—**यद्** विकल्पाधिरूढमात्मस्वरूपं देहादिकं वा **बोधयितुं** ज्ञापयितु**मिच्छामि**। **तन्नाहं** तत्स्वरूपं, नाहमात्मस्वरूपं परमार्थतो भवामि। **यदहं पुनः** यत्पुनरहं चिदानन्दात्मकं स्वसंवेद्यमात्मस्वरूपं। **तदपि ग्राह्यं नान्यस्य** स्वसंवेदने न तदनुभूयत इत्यर्थः। **तत्किमन्यस्य बोधये** तत्तस्मात्किं किमर्थं अन्यस्यात्मस्वरूपं बोधयेऽहम् ॥५९॥

और भी वह अन्तरात्मा विचारता है—

**अन्वयार्थ**—( यत् ) जिस विकल्पाधिरूढ आत्मस्वरूपको अथवा देहादिकको ( बोधयितुं ) समझाने-बुझानेकी ( इच्छामि ) मैं इच्छा करता हूँ—चेष्टा करता हूँ ( तत् ) वह ( अहं ) मैं नहीं हूँ—आत्माका वास्तविक स्वरूप नहीं हूँ। ( पुनः ) और ( यत् ) जो ज्ञानानन्दमय स्वयं अनुभव करने योग्य आत्मस्वरूप ( अहं ) मैं हूँ ( तदपि ) वह भी ( अन्यस्य ) दूसरे जीवोंके ( ग्राह्यं न ) उपदेश द्वारा ग्रहण करने योग्य नहीं है—वह तो स्वसंवेदनके द्वारा अनुभव किया जाता है ( तत् ) इसलिए ( अन्यस्य ) दूसरे जीवोंको ( किं बोधये ) मैं क्या समझाऊँ ?

**भावार्थ**—तत्त्वज्ञानी अन्तरात्मा अपने उपदेशकी व्यर्थताको सोचता हुआ पुनः विचारता है कि—जिस आत्मस्वरूपको शब्दों द्वारा मैं दूसरोंको बतलाना चाहता हूँ वह तो सविकल्प है—आत्माका शुद्ध स्वरूप नहीं है; और जो आत्माका वास्तविक शुद्ध स्वरूप है वह शब्दों द्वारा बतलाया नहीं जा सकता—स्वसंवेदनके द्वारा ही अनुभव एवं ग्रहण किये जानेके योग्य है; तब दूसरोंको मेरे उपदेश देनेसे क्या नतीजा ? ॥ ५९ ॥

बोधितेऽपि चान्तस्तत्त्वे बहिरात्मनो न तत्रानुरागः सम्भवति । मोहोदयात्तस्य बहिरर्थ एवानुरागादिति दर्शयन्नाह—

**बहिस्तुष्यति मूढात्मा पिहितज्योतिरन्तरे ।**
**तुष्यत्यन्तः प्रबुद्धात्मा बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ॥६०॥**

**टीका**—**बहिः** शरीराद्यर्थे **तुष्यति** प्रीतिं करोति । कोऽसौ ? **मूढात्मा** । कथम्भूतः ? **पिहितज्योतिर्**मोहाभिभूतज्ञानः । क्व ? **अन्तरे** अन्तस्तत्त्वविषये । **प्रबुद्धात्मा** मोहानभिभूतज्ञानः **अन्तस्तुष्यति** स्वस्वरूपे प्रीतिं करोति । किं विशिष्टः सन् ? **बहिर्व्यावृत्तकौतुकः** शरीरादौ निवृत्तानुरागः ॥६०॥

आत्मतत्त्वके जैसे-तैसे समझाये जानेपर भी बहिरात्माका अनुराग होना संभव नहीं; क्योंकि मोहके उदयसे बाह्य पदार्थोंमें ही उसका अनुराग होता है, इसी विचारको आगे प्रस्तुत करते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अन्तरे पिहितज्योतिः ) अन्तरङ्गमें जिसकी ज्ञानज्योति मोहसे आच्छादित हो रही है—जिसे स्वरूपका विवेक नहीं ऐसा ( मूढात्मा ) बहिरात्मा ( बहिः ) बाह्य शरीरादि परपदार्थोंमें ही ( तुष्यति - संतुष्ट रहता है—आनन्द मानता है; किन्तु ( प्रबुद्धात्मा ) मिथ्यात्वके उदयाभावसे प्रबोधको प्राप्त हो गया है आत्मा जिसका ऐसा स्वरूप विवेकी अन्तरात्मा ( बहिर्व्यावृत्तकौतुकः ) बाह्यशरीरादि पदार्थोंमें अनुरागरहित हुआ ( अन्तः ) अपने अन्तरंग आत्मस्वरूपमें ही ( तुष्यति ) संतोष धारण करता है—मग्न रहता है ।

**भावार्थ**—मूढात्मा और प्रबुद्धात्माकी प्रवृत्तिमें बड़ा अन्तर होता है । मूढात्मा मोहोदयके वश महा अविवेकी हुआ समझाने पर भी नहीं समझता और बाह्य विषयोंमें ही संतोष मानता हुआ फँसा रहता है । प्रत्युत इसके, प्रबुद्धात्माको अपने आत्मस्वरूपमें लीन रहनेमें ही आनन्द आता है और इसीसे वह बाह्य विषयोंसे अपने इन्द्रिय-व्यापारको हटाकर प्रायः उदासीन रहता है ॥ ६० ॥

कुतोऽसौ शरीरादिविषये निवृत्तभूषणमण्डनादिकौतुक इत्याह—

**न जानन्ति शरीराणि सुखदुःखान्यबुद्धयः ।**
**निग्रहानुग्रहधियं तथाप्यत्रैव कुर्वते ॥६१॥**

**टीका—सुखदुःखानि न जानन्ति ।** कानि **शरीराणि** जडत्वात् । **अबुद्धयो** बहिरात्मानः । **तथापि** यद्यपि जानन्ति तथापि । **अत्रैव** शरीरादावेव **कुर्वते** । कां ? **निग्रहानुग्रहधियं** द्वेषवशादुपवासादिना शरीरादेः कदर्थनाभिप्रायो निग्रहबुद्धि रागवशात्कटककटिसूत्रादिना भूषणाभिप्रायोऽनुग्रहबुद्धिम् ॥६१॥

किसी कारण अन्तरात्मा शरीरादिको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन होता है, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ—**अन्तरात्मा विचारता है—( शरीराणि ) ये शरीर ( सुख-दुःखानि न जानन्ति ) जड़ होनेसे सुखों तथा दुःखोंको नहीं जानते हैं ( तथापि ) तो भी [ ये जो जीव ( अत्रैव ) इन शरीरोंमें ही ( निग्रहानुग्रहधियं ) उपवासादि द्वारा दंडरूप निग्रहकी और अलंकारादि द्वारा अलंकृत करने रूप अनुग्रहकी बुद्धि ( कुर्वते ) धारण करते हैं [ ते ] वे जीव ( अबुद्धयः ) मूढ़बुद्धि हैं—बहिरात्मा हैं ।

**भावार्थ—**अन्तरात्मा विचारता है कि जब ये शरीर जड़ है—इन्हें सुख-दुःखका कोई अनुभव नहीं होता और न ये किसीके निग्रह या अनुग्रहको ही कुछ समझते हैं तब इनमें निग्रहानुग्रहकी बुद्धि धारण करना मूढ़ता नहीं तो और क्या है ? उसका यह विचार ही उसे शरीरोंको वस्त्राभूषणादिसे अलंकृत और मंडित करनेमें उदासीन बनाये रखता है—वह उनकी अनावश्यक चिन्ताको अपने हृदयमें स्थान ही नहीं देता ॥ ६१ ॥

यावच्च शरीरादावात्मबुद्ध्या प्रवृत्तिस्तावत्संसारः तदभावान्मुक्तिरिति-दर्शयन्नाह—

**स्वबुद्ध्या यावद् गृह्णीयात् कायवाक्चेतसां त्रयम् ।**
**संसार तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निर्वृतिः ॥६२॥**

**टीका—स्वबुद्ध्या** आत्मबुद्ध्या **यावद् गृह्णीयात्** । किं ? **त्रयम्** । **केषाम्** ? **कायवाक्चेतसां** सम्बन्धमिति पाठः । तत्र कायवाक्चेतसां त्रयं कर्तृ । **आत्मनि** यावत्सम्बन्धं गृह्णीयात्स्वीकुर्यादित्यर्थः । **तावत्संसारः** । **एतेषां** कायवाक्चेतसां **भेदाभ्यासे तु** आत्मनः सकाशात् कायवाक्चेतांसि भिन्नानीति भेदाभ्यासे भेदभावनायां तु पुनर्निर्वृतिः मुक्तिः ॥६२॥

शरीरादिकमें जब तक आत्मबुद्धिसे प्रवृत्ति रहती है तभी तक संसार है और जब वह प्रवृत्ति मिट जाती है तब मुक्तिकी प्राप्ति हो जाती है, ऐसा दर्शाते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यावत् ) जब तक ( कायवाक्चेतसां त्रयम् ) शरीर, वचन और मन इन तीनोंकी ( स्वबुद्धया ) आत्मबुद्धिसे ( गृह्णीयात् ) ग्रहण किया जाता है ( तावत् ) तब तक ( संसारः ) संसार है ( तु ) और जब ( एतेषां ) इन मन, वचन, कायका ( भेदाभ्यासे ) आत्मासे भिन्न होनेरूप अभ्यास किया जाता है तब ( निर्वृतिः ) मुक्तिकी प्राप्ति होती है।

**भावार्थ**—जब तक इस जीवकी मन-वचन-कायमें आत्मबुद्धि बनी रहती है—इन्हें आत्माके ही अंग अथवा अंश समझा जाता है—तबतक यह जीव संसारमें ही परिभ्रमण करता रहता है। किन्तु जब उसकी यह भ्रमबुद्धि मिट जाती है और वह शरीर तथा वचनादिको आत्मासे भिन्न अनुभव करता हुआ अपने उस अभ्यासमें दृढ़ हो जाता है तभी वह संसार-बंधनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त होता है ॥ ६२ ॥

शरीरादावात्मनो भेदाभ्यासे च शरीरदृढतादिनात्मनो दृढतादिकं नात्मा मन्यते इति दर्शयन् घनेत्यादि श्लोकचतुष्टयमाह—

**घने वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न घनं मन्यते तथा ।**
**घने स्वदेहेऽप्यात्मानं न घनं मन्यते बुधः ॥६३॥**

**टीका**—घने निबिडावयवे वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं घनं दृढावयवं यथा बुधो न मन्यते । तथा स्वदेहेऽपि घने दृढे आत्मानं घनं दृढं बुधो न मन्यते ॥६३॥

शरीरादिक आत्मासे भिन्न हैं—उनमें जीव नहीं—ऐसा भेदज्ञानका अभ्यास दृढ़ हो जानेपर अन्तरात्मा शरीरको दृढ़तादिक बननेपर आत्माकी दृढ़तादिक नहीं मानता, इस बातको आगेके चार श्लोकोंमें बतलाते हैं।

**अन्वयार्थ**—( यथा ) जिस प्रकार ( वस्त्रे घने ) गाढ़ा वस्त्र पहन लेनेपर ( बुधः ) बुद्धिमान् पुरुष ( आत्मनं ) अपनेको-अपने शरीरको ( घनं ) गाढ़ा अथवा पुष्ट ( न मन्यते ) नहीं मानता है ( तथा ) उसी प्रकार ( स्वदेहेऽपि घने ) अपने शरीरके भी गाढ़ा अथवा पुष्ट होनेपर ( बुधः ) अन्तरात्मा ( आत्मानं ) अपने जीवात्माको ( घनं न मन्यते ) पुष्ट नहीं मानता है ॥ ६३ ॥

[1]जीर्णे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न जीर्णं मन्यते तथा ।
जीर्णे स्वदेहेऽप्यात्मानं न जीर्णं मन्यते बुधः ॥६४॥

टीका—जीर्णे पुराणे वस्त्रे प्रावृते यथाऽऽत्मानं जीर्णं न मन्यते । तथा जीर्णे वृद्धे स्वदेहेऽपि स्थितमात्मानं न जीर्णं वृद्धमात्मानं मन्यते बुधः ॥६४॥

अन्वयार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे जीर्णे) पहने हुए वस्त्रके जीर्ण-बोदा होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपनेको-अपने शरीरको (जीर्णं न मन्यते) जीर्ण नहीं मानता है (तथा) उसी प्रकार (स्वदेहे अपि जीर्णे) अपने शरीरके भी जीर्ण हो जानेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (जीर्णं न मन्यते) जीर्ण नहीं मानता है ॥ ६४ ॥

[2]नष्टे वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न नष्टं मन्यते तथा ।
नष्टे स्वदेहेऽप्यात्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

टीका—प्रावृते वस्त्रे नष्टे सति आत्मानं यथा नष्टं बुधो न मन्यते तथा स्वदेहेऽपि नष्टे कुतश्चित्कारणाद्विनाशं गते आत्मानं न नष्टं मन्यते बुधः ॥६५॥

भावार्थ—(यथा) जिस तरह (वस्त्रे नष्टे) कपड़ेके नष्ट हो जानेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (बुधः) अन्तरात्मा (स्वदेहे अपि नष्टे) अपने शरीरको नष्ट हो जानेपर (आत्मानं) अपने जीवात्माको (नष्टं न मन्यते) नष्ट हुआ नहीं मानता है ॥६५॥

[3]रक्ते वस्त्रे यथाऽऽत्मानं न रक्तं मन्यते तथा ।
रक्ते स्वदेहेऽप्यात्मानं न रक्तं मन्यते बुधः ॥६६॥

---

१. जिण्णि वत्थि जेम बुहु देहु ण मण्णइ जिण्णु ।
देहि जिण्णि णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ जिण्णु ॥ २-१८१ ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

२. वत्थु पणट्ठइ जेम बुहु देहु ण मण्णइ णट्ठु ।
णट्ठे देहे णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ णट्ठु ॥ २-१८० ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

३. रत्ते वत्थे जेम बुहु देहु ण मण्णइ रत्तु ।
देहे रत्ति णाणि तहँ अप्पु ण मण्णइ रत्तु ॥ २-७८ ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

**टीका**—रक्ते वस्त्रे प्रावृते सति आत्मानं यथा बुधो न रक्तं मन्यते तथा स्वदेहेऽपि कुसुम्भादिना रक्ते आत्मानं रक्तं न मन्यते बुधः ॥६६॥

**अन्वयार्थ**—(यथा) जिस प्रकार (वस्त्रे रक्ते) पहना हुआ वस्त्र लाल होनेपर (बुधः) बुद्धिमान पुरुष (आत्मानं) अपने शरीरको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है (तथा) उसी तरह (स्वदेहे अपि रक्ते) अपने शरीरके भी लाल होनेपर (बुधः) अन्तरात्मा (आत्मानं) अपने जीवात्माको (रक्तं न मन्यते) लाल नहीं मानता है ॥ ६६ ॥

**भावार्थ**—शरीरके साथ वस्त्रकी जैसी स्थिति है वैसी ही आत्माके साथ शरीर की है। पहने जानेवाले वस्त्रके सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि किसी रंगका होनेके कारण जिस प्रकार कोई भी समझदार मनुष्य अपने शरीरको सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट अथवा लाल आदि रंगका नहीं मानता है, उसी प्रकार शरीरके सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण-नष्ट-भ्रष्ट या लाल आदि रंगका होनेपर कोई भी ज्ञानी मनुष्य अपने आत्माको सुदृढ़-पुष्ट, जीर्ण-शीर्ण, नष्ट-भ्रष्ट या लाल आदि रंगका नहीं मानता है। विवेकी अन्तरात्माकी प्रवृत्ति शरीरके साथ वस्त्र-जैसी होती है, इसीसे एक वस्त्रको उतारकर दूसरा वस्त्र पहननेवालेकी तरह उसे मृत्युके समय कोई विषाद या रंज भी नहीं होता ॥ ६३-६४-६५-६६ ॥

एवं शरीरादिभिन्नमात्मानं भावयतोऽन्तरात्मनः शरीरादेः काष्ठादिना तुल्यताप्रतिभासे मुक्तियोग्यता भवतीति दर्शयन्नाह—

**यस्य सस्पन्दमाभाति निःस्पन्देन समं जगत् ।**
**अप्रज्ञमक्रियाभोगं स शमं याति नेतरः ॥६७॥**

**टीका**—यस्यात्मनः सस्पन्दं परिस्पन्दसमन्वितं शरीरादिरूपं जगत् आभाति प्रतिभासते। कथम्भूतं? निःस्पन्देन समं निःस्पन्देन काष्ठपाषाणादिना समं तुल्यं। कुतः तेन तत्समं? अप्रज्ञं जडमचेतनं यतः। तथा अक्रियाभोगं क्रिया पदार्थपरिस्थितिः भोगः सुखाद्यनुभवः तौ न विद्येते यत्र यस्यैवं तत्प्रतिभासते स किं करोति? स शमं याति शमं परमवीतरागतां संसारभोगदेहोपरि वा वैराग्यं गच्छति। कथम्भूतं शमं? अक्रियाभोगमित्येतदत्रापि सम्बन्धनीयम्। क्रिया वाक्कायमनोव्यापारः। भोग इन्द्रियप्रणालिकया विषयानुभवनं विषयोत्सवः। तौ न विद्येते यत्र तमित्थम्भूतं शमं स याति। नेतरः तद्विलक्षणो बहिरात्मा ॥६७॥

इस प्रकार शरीरादिकसे भिन्न आत्माकी भावना करनेवाले अन्तरात्माको जब ये शरीरादिक काष्ठ-पाषाणादिके खण्ड-समान प्रतिभासित होने लगते हैं—उनमें चेतनाका अंश भी उसकी प्रतीतिका विषय नहीं रहता—तब उसको मुक्तिकी योग्यता प्राप्त होती है। इसी बातको आगे दिखलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यस्य ) जिस ज्ञानी जीवको ( सस्पन्दं जगत् ) अनेक क्रियाएँ-चेष्टाएँ करता हुआ शरीरादिरूप यह जगत् ( निस्पन्देन समं ) निश्चेष्ट काष्ठ-पाषाणादिके समान ( अप्रज्ञं ) चेतनारहित जड़ और ( अक्रियाभोगं ) क्रिया तथा सुखादि-अनुभवरूप भोगसे रहित ( आभाति ) मालूम होने लगता है ( सः ) वह पुरुष ( अक्रियाभोगं शमं याति ) परम-वीतरागतामय उस शान्ति-सुखका अनुभव करता है जिसमें मन-वचन-कायका व्यापार नहीं और न इन्द्रिय-द्वारोंसे विषयका भोग ही किया जाता है ( इतरः न ) उससे विलक्षण दूसरा बहिरात्मा जीव उस शान्ति-सुखको प्राप्त नहीं कर सकता है।

**भावार्थ**—जिस समय अन्तरात्मा आत्मस्वरूपका चिन्तन करते-करते अपनेमें स्थिर हो जाता है कि उसे यह क्रियात्मक संसार भी लकड़ी, पत्थर आदिकी तरह स्थिर तथा चेष्टारहित-सा जान पड़ता है—उसकी क्रियाओंका उसपर कोई असर नहीं होता—तभी वह वीतरागभावको प्राप्त होता हुआ शान्ति सुखका अधिकारी है ॥६७॥

सोऽप्येवं शरीरादिभिन्नमात्मानं किमिति न प्रतिपद्यत इत्याह—

**शरीरकंचुकेनात्मा संवृतज्ञानविग्रहः ।**
**नात्मानं बुध्यते तस्माद् भ्रमत्यतिचिरं भवे ॥६८॥**

**टीका**—शरीरमेव कंचुकं तेन संवृतः सम्यक् प्रच्छादितो ज्ञानमेव विग्रहः स्वरूपं यस्य । शरीरसामान्योपादानेऽप्यत्र कार्मणशरीरमेव गृह्यते । तस्यैव मुख्यवृत्त्या तदावरकत्वोपपत्तेः । इत्थंभूतो बहिरात्मा नात्मानं बुध्यते तस्मादात्मस्वरूपानवबोधात् अतिचिरं बहुतरकालं भवे संसारे भ्रमति ॥६८॥

अब बहिरात्मा भी इसी प्रकार शरीरादिसे भिन्न आत्माको क्या जानता नहीं ? इसीको बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( शरीरकंचुकेन ) कार्माणशरीररूपी कांचलीसे ( संवृतज्ञानविग्रहः आत्मा ) ढका हुआ है ज्ञानरूपी शरीर जिसका ऐसा बहिरात्मा ( आत्मानं ) आत्माके यथार्थ स्वरूपको (न बुध्यते) नहीं जानता

है (तस्मात्) उसी अज्ञानके कारण ( अतिचिरं ) बहुत काल तक ( भवे ) संसारमें ( भ्रमति ) भ्रमण करता है ।

**भावार्थ**—इस श्लोक में 'कंचुक' शब्द उस आवरणका द्योतक है जो शरीरका यथार्थ बोध नहीं होने देता; सर्प-शरीरके ऊपरकी कांचली जिस प्रकार सर्पके रंगारूपादिका ठीक बोध नहीं होने देती उसी प्रकार आत्माका ज्ञान शरीर जब दर्शनमोहनीयके उदयादिरूप कार्माण वर्गणाओं-से आच्छादित हो जाता है तब आत्माके वास्तविक रूपका बोध नहीं होने पाता और इस अज्ञानताके कारण रागादिकका जन्म होकर चिर-काल तक संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है ।

यहाँपर इतना और भी जान लेना चाहिये कि कांचलीका दृष्टान्त एक स्थूल दृष्टान्त है। कांचली जिस प्रकार सर्प-शरीरके ऊपरी भागपर रहती है उसी प्रकारका सम्बन्ध कार्माण-शरीरका आत्माके साथ नहीं है। संसारी आत्मा और कार्माण-शरीरका ऐसा सम्बन्ध है जैसे पानीमें नमक मिल जाता है अथवा कत्था और चूना मिला देनेसे जैसे उनकी लालपरिणति हो जाती है। कर्मपरमाणुओंका आत्मप्रदेशोंके साथ एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध होता है, इसी कारण दोनोंके गुण विकृत रहते हैं, तथा दर्शनमोहनीय कर्मके उदयसे बहिरात्मा जीव आत्मस्वरूपको सम-झाये जानेपर भी नहीं समझता है—आत्माके वास्तविक चिदानंदस्वरूप-का अनुभव उसे नहीं होता। इसी मिथ्यात्व एवं अज्ञानभावके कारण यह जीव अनादिकालसे संसारचक्रमें भ्रमण करता आ रहा है और उस वक्त तक बराबर भ्रमण करता रहेगा जबतक उसका यह अज्ञानभाव नहीं मिटेगा ॥६८॥

यद्यात्मनः स्वरूपमात्मत्वेन बहिरात्मानो न बुध्यन्ते तदा किमात्मत्वेन ते बुध्यन्ते इत्याह—

**प्रविशद्गलतां व्यूहे देहेऽणूनां समाकृतौ ।**
**स्थितिभ्रान्त्या प्रपद्यन्ते तमात्मानमबुद्धयः ॥६९॥**

**टीका**—तं देहात्मानं प्रपद्यन्ते । के ते ? अबुद्धयो बहिरात्मानः । कया कृत्वा ? स्थितिभ्रान्त्या । क्व ? **देहे** । कथम्भूते देहे ? **व्यूहे** समूहे । केषां ? **अणूनां** परमाणूनां । किं विशिष्टानां ? **प्रविशद्गलतां** अनुप्रविशतां निर्गच्छतां च । पुनरपि कथम्भूते ? **समाकृतौ** समानाकारे सदृशा परापरोत्पादेन । आत्मना सहैक-क्षेत्रे समानावगाहेन वा । इत्यम्भूते देहे या स्थितिभ्रान्तिः स्थित्या कालान्तरा-वस्थायित्वेन एकक्षेत्रावस्थानेन वा भ्रान्तिर्देहात्मनोरभेदाध्यवसायस्तया ॥६९॥

यदि बहिरात्मा जीव आत्माके यथार्थ स्वरूपको नहीं पहिचानते हैं, तो फिर वे किसको आत्मा जानते हैं ? इसी बातको आगे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अबुद्धयः ) अज्ञानी बहिरात्मा जीव ( प्रविशद्गलतां अणूनां व्यूहे देहे ) ऐसे परमाणुओंके समूहरूप शरीरमें जो प्रवेश करते हैं और बाहर निकलते रहते हैं ( समाकृतौ ) शरीरकी आकृतिके समान-रूपमें बने रहनेपर ( स्थितिभ्रान्त्या ) कालांतर-स्थायित्व तथा एकक्षेत्रमें स्थिति होनेके कारण शरीर और आत्माको एक समझनेके रूप जो भ्रांति होती है उससे ( तम् ) उस शरीरको ही ( आत्मानं ) आत्मा ( प्रपद्यते ) समझ लेते हैं।

**भावार्थ**—यद्यपि शरीर ऐसे पुद्गल परमाणुओंका बना हुआ है जो सदा स्थिर नहीं रहते—समय-समयपर अगणित परमाणु शरीरसे बाहर निकल जाते हैं और नये-नये परमाणु शरीरके भीतर प्रवेश करते हैं, फिर भी चूँकि आत्मा और शरीरका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है और पर-माणुओंके इस निकल जाने तथा प्रवेश पानेपर बाह्य आकृतिमें कोई विशेष भेद नहीं पड़ता—वह प्रायः ज्योंकी त्यों ही बनी रहती है—इससे मूढात्माओंको यह भ्रम हो जाता है कि यह शरीर ही मैं हूँ—मेरा आत्मा है। इसी भ्रमके कारण मूढ बहिरात्मा प्राणी शरीरको ही अपना रूप ( आत्मस्वरूप ) समझने लगते हैं। आभ्यन्तर आत्मतत्त्व तक उनकी दृष्टि ही नहीं पहुँचती ॥ ६९ ॥

ततो यथावदात्मस्वरूपप्रतिपत्तिमिच्छन्नात्मानं देहाद्भिन्नं भावयेदित्याह—

**गौरः स्थूलः कृशो वाऽहमित्यङ्गेनाविशेषयन् ।**
**आत्मानं धारयेन्नित्यं केवलज्ञप्तिविग्रहम् ॥७०॥**

**टीका**—गौरोऽहं स्थूलोऽहं कृशोवाऽहमित्यनेन प्रकारेणाङ्गेन विशेषणेन अवि-शेषयन् विशिष्टं अकुर्वन्नात्मानं धारयेत् चित्तेऽविचलं भावयेत् नित्यं सर्वदा । कथम्भूतं ? केवलज्ञप्तिविग्रहं केवलज्ञानस्वरूपं । अथवा केवला रूपादिरहिता ज्ञप्तिरेवोपयोग एव विग्रहः स्वरूपं यस्य ॥७०॥

ऐसी हालतमें आत्माका यथार्थ स्वरूप जाननेकी इच्छा रखने वालोंको चाहिये कि वह शरीरसे भिन्न आत्माकी भावना करें ऐसा दर्शाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अहं ) मैं ( गौरः ) गोरा हूँ ( स्थूलः ) मोटा हूँ ( वा

कृशः) अथवा दुबला हूँ ( इति ) इस प्रकार ( अंगेन ) शरीरके साथ ( आत्मानं ) अपनेको (अविशेषयन्) एकरूप न करते हुए ( नित्यं ) सदा ही ( आत्मानं ) अपने आत्माको ( केवलज्ञप्तिविग्रहम् ) केवलज्ञानस्वरूप अथवा रूपादिरहित उपयोगशरीरी ( धारयेत् ) अपने चित्तमें धारण करे।

**भावार्थ**—गोरापन, कालापन, मोटापन, दुबलापन आदि अवस्थाएँ पुद्गल की हैं—पुद्गलसे भिन्न इनका अस्तित्व नहीं है। आत्मा इन शरीरके धर्मोंसे भिन्न एक ज्ञायकस्वरूप है। अतः आत्मपरिज्ञानके इच्छुकोंको चाहिये कि वे अपने आत्माको इन पुद्गलपर्यायोंके साथ एकमेक ( अभेदरूप ) न करें, बल्कि इन्हें अपना रूप न मानते हुए अपनेको रूपादिरहित केवलज्ञानस्वरूप समझें। इसीका नाम भेदविज्ञान है ॥७०॥

यश्चैवं विधमात्मानमेकाग्रमनसा भावयेत्तस्यैव मुक्तिर्नान्यस्येत्याह—

**मुक्तिरेकान्तिकी तस्य चित्ते यस्याचला धृतिः ।**
**तस्य नैकान्तिकी मुक्तिर्यस्य नास्त्यचला धृतिः ॥७१॥**

**टीका**—**एकान्तिकी** अवश्यम्भाविनी **तस्यान्तरात्मानो मुक्तिः** । **यस्य चित्ते अचिचला धृतिः** आत्मस्वरूपधारणं स्वरूपविषया प्रसक्तिर्वा **यस्य तु चित्ते नास्त्यचला धृतिस्तस्य नैकान्तिकी मुक्तिः** ॥७१॥

जो इस प्रकार आत्माकी एकाग्रचित्तसे भावना करता है उसीको मुक्तिकी प्राप्ति होती है अन्यको नहीं, ऐसा दिखाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यस्य ) जिस पुरुषके ( चित्ते ) चित्तमें ( अचला ) आत्मस्वरूपकी निश्चल ( धृतिः ) धारणा है ( तस्य ) उसकी ( एकान्तिकी मुक्तिः ) नियमसे मुक्ति होती है। ( यस्य ) जिस पुरुषकी ( अचलाधृतिः नास्ति ) आत्मस्वरूपमें निश्चल धारणा नहीं है ( तस्य ) उसकी ( एकान्तिकी मुक्तिः न ) अवश्यम्भाविनी मुक्ति नहीं होती है।

**भावार्थ**—जब यह जीव आत्मस्वरूपमें डाँवाडोल न रहकर स्थिर हो जाता है तभी मुक्तिकी प्राप्ति कर सकता है। आत्मस्वरूपमें स्थिरताके बिना मुक्तिकी प्राप्ति होना असंभव है ॥ ७१ ॥

---

१. हउँ गोरउ हउँ सामलउ हउँ जि विभिण्णउ वण्णु ।
हउँ तणु-अंगउँ थूलु हउँ एहउँ मूढउ मण्णु ॥ ८० ॥
—परमात्मप्रकाशे, योगीन्द्रदेवः

चित्तेऽचला धृतिश्च लोकसंसर्गं परित्यज्यात्मस्वरूपस्य संवेदनानुभवे सति स्यान्नान्यथेति दर्शयन्नाह—

**जनेभ्यो वाक्, ततः स्पन्दो मनसश्चित्तविभ्रमाः ।**
**भवन्ति तस्मात्संसर्गं जनैर्योगी ततस्त्यजेत् ॥७२॥**

**टीका**—**जनेभ्योवाक्** वचनप्रवृत्तिर्भवति । प्रवृत्तेः **स्पन्दो मनसः** व्यग्रतामानसं भवति । **तस्मात्मनः स्पन्दाच्चित्तविभ्रमाः** नाना विकल्पप्रवृत्तयो भवन्ति । यत एवं **ततस्तस्मात्** योगी त्यजेत् कं ? संसर्गं सम्बन्धम् कैः सह ? जनैः ॥७२॥

चित्तकी निश्चलता तभी हो सकेगी जब लोक-संसर्गका परित्याग कर आत्मस्वरूपका संवेदन एवं अनुभव किया जावेगा–अन्यथा नहीं हो सकेगी; इसी बातको आगे प्रकट करते हैं—

**अन्वयार्थ**—( जनेभ्यो ) लोगोंके संसर्गसे ( वाक् ) वचनकी प्रवृत्ति होती है—चित्त चलायमान होता है ( तस्मात् ) चित्तकी चंचलतासे ( चित्तविभ्रमाः भवन्ति ) चित्तमें नाना प्रकारके विकल्प उठने लगते हैं–मन क्षुभित हो जाता है ( ततः ) इसीलिये (योगी) योगमें संलग्न होनेवाले अन्तरात्मा साधुको चाहिये कि वह ( जनैः संसर्गं त्यजेत् ) लौकिक जनोंके संसर्गका परित्याग करे—ऐसे स्थानपर योगाभ्यास करने न बैठे। जहाँपर कुछ लौकिकजन जमा हों अथवा उनका आवागमन बना रहता हो।

**भावार्थ**—आत्मस्वरूपमें स्थिरताके इच्छुक मुमुक्षु पुरुषोंको चाहिये कि वे लौकिक जनोंके संसर्गसे अपनेको प्रायः अलग रखें, क्योंकि लौकिकजन जहाँ जमा होते हैं वहाँ वे परस्परमें कुछ-न-कुछ बातचीत किया करते हैं, बोलते हैं और शोर तक मचाते हैं। उनकी इस वचनवृत्तिके श्रवणसे चित्त चलायमान होता है और उसमें नाना प्रकारके संकल्प-विकल्प उठने लगते हैं, जो आत्मस्वरूपकी स्थिरतामें बाधक होते हैं—आत्माको अपना अन्तिम ध्येय सिद्ध करने नहीं देते ॥ ७२ ॥

तर्हि तैः संसर्गं परित्यज्याटव्यां निवासः कर्तव्य इत्याशंकां निराकुर्वन्नाह—

**ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा निवासोऽनात्मदर्शिनाम् ।**
**दृष्टात्मनां निवासस्तु विविक्तात्मैव निश्चलः ॥७३॥**

**टीका**—**ग्रामोऽरण्यमित्येवं द्वेधा निवासः** स्थानं **अनात्मदर्शिनाम**लब्धात्मस्वरूपोपलम्भानां **दृष्टात्मना**मुपलब्धात्मस्वरूपाणां **निवासस्तु** विमुक्तात्मैव रागादिरहितो विशुद्धात्मैव निश्चलः चित्तव्याकुलतारहितः ॥७३॥

तब क्या मनुष्योंका संसर्ग छोड़कर जंगलमें निवास करना चाहिये ? इस शंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अनात्मदर्शिनां ) जिन्हें आत्माकी उपलब्धि–उसका दर्शन अथवा अनुभव नहीं हुआ ऐसे लोगोंके लिए ( ग्रामः अरण्यम् ) यह गाँव है, यह जंगल है ( इति द्वेधा निवासः ) इस प्रकार दो तरहके निवासकी कल्पना होती है ( तु ) किन्तु ( दृष्टात्मनां ) जिन्हें आत्मस्वरूपका अनुभव हो गया है ऐसे ज्ञानी पुरुषोंके लिये ( विविक्तः ) रागादि रहित विशुद्ध एवं ( निश्चलः ) चित्तकी व्याकुलता रहित स्वरूपमें स्थिर ( आत्मा एव ) आत्मा ही ( निवासः ) रहनेका स्थान है।

**भावार्थ**—जो लोग आत्मानुभवसे शून्य होते हैं उन्हींका निवासस्थान गाँव तथा जंगलमें होता है—कोई गाँवको अपनाता है तो दूसरा जंगलसे प्रेम रखता है। गाँव और जंगल दोनों ही बाह्य एवं परवस्तुएँ हैं। मात्र जंगलका निवास किसीको आत्मदर्शी नहीं बना देता। प्रत्युत इसके, जो आत्मदर्शी होते हैं उनका निवासस्थान वास्तवमें वह शुद्धात्मा होता है जो वीतरागताके कारण चित्तकी व्याकुलताको अपने पास फटकने नहीं देता और इसलिये उन्हें न तो ग्रामवाससे प्रेम होता है और न वनके निवाससे हो–वे दोनोंको ही अपने आत्मस्वरूपसे बहिर्भूत समझते हैं और इसलिए किसीमें भी आसक्तिका रखना अथवा उसे अपना ( आत्माका ) निवासस्थान मानना उन्हें इष्ट नहीं होता। वे तो शुद्धात्मस्वरूपको ही अपनी विहारभूमि बनाते हैं और उसीमें सदा रमे रहते हैं। ग्रामका निवास उन्हें आत्मदर्शीसे अनात्मदर्शी नहीं बना सकता ॥ ७३ ॥

अनात्मदर्शिनो दृष्टात्मनश्च फलं दर्शयन्नाह—

**देहान्तरगतेर्बीजं देहेऽस्मिन्नात्मभावना ।**
**बीजं विदेहनिष्पत्तेरात्मन्येवात्मभावना ॥७४॥**

**टीका**—देहान्तरे भवान्तरे गतिर्गमनं तस्य **बीजं** कारणं किं ? **आत्मभावना** । क्व ? **देहेऽस्मिन्** अस्मिन् कर्मवशादगृहीते देहे । **विदेहनिष्पत्तेः** विदेहस्य सर्वथा देहत्यागस्य निष्पत्तेर्मुक्तिप्राप्तेः **पुनर्बीजं स्वात्मन्येवात्मभावना** ॥७४॥

अनात्मदर्शी और आत्मदर्शी होनेका फल क्या है, उसे दिखाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अस्मिन् देहे ) कर्मोदयवश ग्रहण किये हुए इस शरीरमें ( आत्मभावना ) आत्माकी जो भावना है—शरीरको ही आत्मा मानना है–वही ( देहान्तरगतेः ) अन्य शरीर ग्रहणरूप भवान्तरप्राप्तिका ( बीजं ) कारण है और ( आत्मनि एव ) अपनी आत्मामें ही ( आत्मभावना )

आत्मकी जो भावना है—आत्माको ही आत्मा मानना है वह ( विदेहनिष्पत्तेः ) शरीरके सर्वथा त्याग रूप मुक्तिका ( बीजं ) कारण है।

**भावार्थ**—जो जीव कर्मोदयजन्य इस जड़ शरीरको ही आत्मा समझता है और इसीसे देह-भोगोंमें आसक्त रहता है, वह चिरकाल तक नये-नये शरीर धारण करता हुआ संसारपरिभ्रमण करता है और इस तरह अनन्त कष्टोंको भोगता है। प्रत्युत इसके, आत्माके निजस्वरूपमें ही जिसकी आत्मत्वकी भावना है वह जीव शीघ्र ही कर्मबन्धनसे छूटकर मुक्तिको प्राप्त हो जाता है और सदाके लिए अपने निराबाध सुखस्वरूपमें मग्न रहता है ॥ ७४ ॥

नहि मुक्तिप्राप्तिहेतुः कश्चिद्गुरुर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

**नयत्यात्मानमात्मैव जन्म निर्वाणमेव च[1]।**
**गुरुरात्मात्मनस्तस्मान्नान्योऽस्ति परमार्थतः ॥७५॥**

**टीका—जन्म** संसारं **नयति** प्रापयति। कं ? **आत्मानं**। कोऽसौ ? **आत्मैव** देहादौ दृढात्मभावनावशात्। **निर्वाणमेव च** आत्मानमात्मैव नयति स्वात्मन्येवात्मबुद्धिप्रकर्षसद्भावात्। यत एवं **तस्मात्** परमार्थतो **गुरुरात्मात्मनः**। **नान्यो गुरुरस्ति परमार्थतः**। व्यवहारेण तु यदि भवति तदा भवतु ॥७५॥

यदि ऐसा है, तब मुक्तिको प्राप्त करानेके लिए हेतुभूत कोई दूसरा गुरु तो होगा ? ऐसी आशंका करने वालेके प्रति कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( आत्मा एव ) आत्मा ही ( आत्मानं ) आत्माको ( जन्म नयति ) देहादिकमें मूढ़ात्मभावनाके कारण जन्म-मरणरूप संसारमें भ्रमण कराता है ( च ) और ( निर्वाणमेव नयति ) आत्मामें ही आत्मबुद्धिके प्रकर्षवश मोक्ष प्राप्त कराता है ( तस्मात् ) इसलिए ( परमार्थतः ) निश्चयसे ( आत्मनः गुरुः ) आत्माका गुरु ( आत्मा एव ) आत्मा ही है ( अन्यः न अस्ति ) दूसरा कोई गुरु नहीं है।

**भावार्थ**—हितोपदेशक सद्गुरुओंका हितकर उपदेश सुनकर भी जब तक यह जीव अपने आत्माको नहीं पहचानता और अंतरंग रागादिक शत्रुओं एवं कषाय-परिणतिपर विजय प्राप्तकर स्वयं अपने उद्धारका यत्न नहीं करता तब तक बराबर संसाररूपी कीचड़में ही फँसा रहता है और जन्ममरणादिके असह्य कष्टोंको भोगता रहता है। परन्तु जब

१. 'वा' इति पाठान्तरं 'ग' पुस्तके।

इस जीवकी भवस्थिति सन्निकट आती है, दर्शनमोहका उपशम-क्षयोपशम होता है, उस समय सद्‌गुरुओंके उपदेशके बिना भी यह जीव अपने आत्मस्वरूपको पहचान लेता है और रागद्वेषादिरूप कषायभाव एवं विभावपरिणतिको त्याग करके स्वयं कर्मबन्धनसे छूट जाता है। इसलिये परमार्थिकदृष्टिसे तो खुद आत्मा ही अपना गुरु है—दूसरा नहीं ॥७५॥

देहे स्वबुद्धिमरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

**दृढात्मबुद्धिर्देहादावुत्पश्यन्नाशमात्मनः ।**
**मित्रादिभिर्वियोगं च बिभेति मरणाद्भृशम् ॥७६॥**

टीका—**देहादौ दृढात्मबुद्धि**रविचलात्मदृष्टिर्बहिरात्मा । **उत्पश्यन**वलोकयन् । **आत्मनो नाशं** मरणं **मित्रादिभिर्वियोगं च** मम भवति इति बुद्धयमानो **मरणाद्-बिभेति भृश**मत्यर्थम् ॥७६॥

शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा मरणके संनिकट आनेपर क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( देहादौ दृढात्मबुद्धिः ) शरीरादिकमें जिसकी आत्मबुद्धि दृढ हो रही है ऐसा बहिरात्मा ( आत्मनः नाशम् ) शरीरके छूटनेरूप अपने मरण ( च ) और ( मित्रादिभिः वियोगं ) मित्रादि-सम्बन्धियोंके वियोगको ( उत्पश्यन् ) देखता हुआ ( मरणात् ) मरनेसे ( भृशम् ) अत्यन्त ( बिभेति ) डरता है।

**भावार्थ**—फटे-पुराने कपड़ेको उतारकर नवीन वस्त्र पहननेमें जिस प्रकार कोई दुःख नहीं होता, उसी प्रकार एक शरीरको छोड़कर दूसरा नया शरीर धारण करनेमें कोई कष्ट न होना चाहिए। परन्तु यह अज्ञानी जीव मोहके तीव्र उदयवश जब शरीरको ही आत्मा समझ लेता है और शरीर सम्बन्धी स्त्री-पुत्र-मित्रादि परपदार्थोंको आत्मीय मान लेता है तब मरणके समुपस्थित होने पर उसे अपना ( अपने आत्मा का ) नाश और आत्मीय जनोंका वियोग दीख पड़ता है और इसलिए वह मरने से बहुत ही डरता है ॥ ७६ ॥

यस्तु स्वात्मन्येवात्मबुद्धिः स मरणोपनिपाते किं करोतीत्याह—

**आत्मन्येवात्मधीरन्यां शरीरगतिमात्मनः ।**
**मन्यते निर्भयं त्यक्त्वा वस्त्रं वस्त्रांतरग्रहम् ॥७७॥**

टीका— आत्मन्येवात्मस्वरूप एव **आत्मधीः** अन्तरात्मा **शरीरगतिं** शरीरविनाशं शरीरपरिणतिं वा बालाद्यवस्थारूपां **आत्मनो अन्यां** भिन्नां **निर्भयं** यथा भवत्येवं

मन्यते । शरीरविनाशोत्पादौ आत्मनो विनाशोत्पादौ न मन्यत इत्यर्थः । वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहणमिव ॥७७॥

जिसकी आत्मस्वरूपमें ही आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा मरणके समुपस्थित होनेपर क्या करता है उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( आत्मनि एव आत्मधीः ) आत्मस्वरूपमें ही जिसकी दृढ़ आत्मबुद्धि है ऐसा अन्तरात्मा ( शरीरगतिं ) शरीरके विनाशको अथवा बाल-युवा आदिरूप उसकी परिणतिको ( आत्मनः अन्यां ) अपने आत्मासे भिन्न ( मन्यते ) मानता है—शरीरके उत्पाद विनाशमें अपने आत्माका उत्पाद-विनाश नहीं मानता—और इस तरह मरणके अवसर-पर ( वस्त्रं त्यक्त्वा वस्त्रान्तरग्रहम् इव ) एक वस्त्रको छोड़कर दूसरा वस्त्र ग्रहण करने की तरह ( निर्भयं मन्यते ) निर्भय रहता है।

**भावार्थ**—अन्तरात्मा स्व-परके भेदका यथार्थ ज्ञाता होता है, अतएव पुद्गलके विविध परिणामोंसे खेद खिन्न नहीं होता। शरीरादि पुद्गलमय द्रव्योंको वह अपने नहीं समझता। इसीलिये शरीररूपी झोपड़ीका विनाश समुपस्थित होनेपर भी उसे आकुलता नहीं सताती। वह तो निर्भय हुआ अपने आत्मस्वरूपमें मग्न रहता है और शरीरके त्याग ग्रहणको वस्त्रके त्याग ग्रहणके समान समझता है ॥ ७७ ॥

एवं च स एव बुध्यते यो व्यवहारेऽनादरपरः यस्तु तत्रादरपरः स न बुध्यत इत्याह—

**[1]व्यवहारे सुषुप्तो यः स जागर्त्यात्मगोचरे ।**
**जागर्ति व्यवहारेऽस्मिन् सुषुप्तश्चात्मगोचरे ॥७८॥**

**टीका**—व्यवहारे विकल्पाभिधानलक्षणे प्रवृत्तिनिवृत्त्यादिस्वरूपे वा सुषुप्तोऽप्रयत्नपरो यः स जागर्त्यात्मगोचरे आत्मविषये संवेदनोद्यतो भवति । यस्तु व्यवहारेऽस्मिन्नुक्तप्रकारे जागर्ति स सुषुप्तः आत्मगोचरे ॥७८॥

इस प्रकार वही आत्मबोधको प्राप्त होता है जो व्यवहारमें अनादर-वान है—अनासक्त है—और जो व्यवहारमें आदरवान् है—आसक्त है—वह आत्मबोधको प्राप्त नहीं होता।

---

१. सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सकज्जम्मि ।
जो जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे ॥ ३१ ॥
मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

**अन्वयार्थ**—( यः ) जो कोई ( व्यवहारे ) प्रवृत्ति-निवृत्यादिरूप लोकव्यवहारमें ( सुषुप्तः ) सोता है—अनासक्त एवं अप्रयत्नशील रहता है ( सः ) वह ( आत्मगोचरे ) आत्माके विषयमें ( जागर्ति ) जागता है—आत्मानुभवमें तत्पर रहता है ( च ) और जो ( अस्मिन् व्यवहारे ) इस लोक व्यवहारमें ( जागर्ति ) जागता है—उसकी साधनामें तत्पर रहता है वह ( आत्मगोचरे ) आत्माके विषयमें ( सुषुप्तः ) सोता है—आत्मानुभवका कोई प्रयत्न नहीं करता है।

**भावार्थ**—जिस प्रकार एक म्यानमें दो तलवारें नहीं रह सकतीं उसी प्रकार आत्मामें एक साथ दो विरुद्ध परिणतियाँ भी नहीं रह सकतीं, आत्मासक्ति और लोकव्यवहारासक्ति ये दो विरुद्ध परिणतियाँ हैं। जो आत्मानुभवनमें आसक्त हुआ आत्माके आराधनमें तत्पर होता है वह लौकिक व्यवहारोंसे प्रायः उदासीन रहता है—उनमें अपने आत्माको नहीं फँसाता। और जो लोकव्यवहारोंने अपने आत्माको फँसाए रखता है—उन्हींमें सदा दत्तावधान रहता है—वह आत्माके विषयमें बिल्कुल बेखबर रहता है—उसे अपने शुद्धस्वरूपका कोई अनुभव नहीं हो पाता ॥ ७८ ॥

यश्चात्मगोचरे जागर्ति स मुक्तिं प्राप्नोतीत्याह—

**आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा दृष्ट्वा देहादिकं बहिः ।**
**तयोरन्तरविज्ञानादभ्यासादच्युतो भवेत् ॥७९॥**

**टीका**—आत्मानमन्तरेऽभ्यन्तरे **दृष्ट्वा देहादिकं बहिर्दृष्ट्वा तयोरात्मदेहयो-रन्तरविज्ञानात्** भेदविज्ञानात् **अच्युतो** मुक्तो **भवेत्**। ततोऽच्युतो भवन्नप्यभ्यासाद्-भेदज्ञानभावनातो भवति न पुनर्भेदविज्ञानमात्रात् ॥७९॥

जो अपने आत्मस्वरूपके विषयमें जागता है—उसकी ठीक सावधानी रखता है—वह मुक्तिको प्राप्त करता है, ऐसा कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अन्तरे ) अन्तरंगमें ( आत्मानम् ) आत्माके वास्तविक स्वरूपको ( दृष्ट्वा ) देखकर और ( बहिः ) बाह्यमें ( देहादिकं ) शरीरादिक परभावोंको ( दृष्ट्वा ) देखकर ( तयोः ) आत्मा और शरीरादिक दोनोंके ( अन्तरविज्ञानात् ) भेदविज्ञानसे तथा ( अभ्यासात् ) अभ्यास द्वारा उस भेदविज्ञानमें दृढ़ता प्राप्त करनेसे ( अच्युतो भवेत् ) यह जीव मुक्त हो जाता है।

**भावार्थ**—जब इस जीवको आत्मस्वरूपका दर्शन हो जाता है और यह शरीरादिकको अपने आत्मासे भिन्न परपदार्थ समझने लगता है तब

इसकी परिणति पलट जाती है—बाह्य विषयोंसे हटकर अन्तर्मुखी हो जाती है—और तब यह अपने उपयोगको इधर-उधर इन्द्रिय विषयोंमें न भ्रमाकर आत्माराधनकी ओर एकाग्र करता है, आत्मसाधनके अपने अभ्यासको बढ़ाता है और उस अभ्यासमें दृढ़ता सम्पादन करके अपने सम्यग्दर्शनादि गुणोंका पूर्ण विकास कर लेता है। फिर उसका आत्म-स्वरूपसे पतन नहीं होता—वह उसमें बराबर स्थिर रहता है। इसीका नाम अच्युत ( मोक्ष ) पदकी प्राप्ति है ॥ ७९ ॥

यस्य च देहात्मनोर्भेददर्शनं तस्य प्रारब्धयोगावस्थायां निष्पन्नयोगावस्थायां च कीदृशं जगत्प्रतिभासत इत्याह—

**पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य विभात्युन्मत्तवज्जगत् ।**
**स्वभ्यस्तात्मधियः पश्चात् काष्ठपाषाणरूपवत् ॥८०॥**

**टीका**—**पूर्वं** प्रथमं **दृष्टात्मतत्त्वस्य** देहाद्भेदेन प्रतिपन्नात्मस्वरूपस्य प्रारब्ध-योगिनः **विभात्युन्मत्तवज्जगत्** स्वरूपचिन्तनविकलत्वाच्छुभेतरचेष्टायुक्तमिदं जगत् नानाबाह्यविकल्पैरुपेतमुन्मत्तमिव प्रतिभासते । **पश्चान्निष्पन्नयोगावस्थायां सत्यां स्वभ्यस्तात्मधियः** सुष्ठुभावितमात्मस्वरूपं येन तस्य निश्चलात्मस्वरूपमनुभवतो जगद्विषयचिन्ताभावात् **काष्ठपाषाणरूपवत्**प्रतिभाति । न तु परमौदासीन्याव-लम्बात् ॥८०॥

शरीर और आत्माका जिसे भेदविज्ञान हो गया है ऐसे अन्तरात्माको यह जगत योगाभ्यासकी प्रारम्भावस्थामें कैसा दिखाई देता है और योगाभ्यासकी निष्पन्नावस्थामें कैसा प्रतीत होता है उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( दृष्टात्मतत्त्वस्य ) जिसे आत्मदर्शन हो गया है ऐसे योगी जीवको ( पूर्वं ) योगाभ्यासकी प्राथमिक अवस्थामें ( जगत् ) यह सब प्राणिसमूह ( उन्मत्तवत् ) उन्मत्त-सरीखा ( विभाति ) मालूम होता है किन्तु ( पश्चात् ) बादको जब योगकी निष्पन्नावस्था हो जाती है तब ( स्वभ्यस्तात्मधियः ) आत्मस्वरूपके अभ्यासमें परिपक्वबुद्धि हुए अन्त-रात्माको ( काष्ठपाषाणरूपवत् ) यह जगत् काठ और पत्थरके समान चेष्टारहित मालूम होने लगता है।

**भावार्थ**—अपने शरीरसे भिन्नरूप जब आत्माका अनुभव होता है तब योगकी प्रारम्भिक दशा होती है, उस समय योगी अन्तरात्माको यह जगत् स्वरूपचिन्तनसे विकल होनेके कारण शुभाऽशुभ चेष्टाओंसे युक्त और नाना प्रकारके बाह्य विकल्पोंसे घिरा हुआ उन्मत्त—जैसा मालूम

पड़ता है। बादको योगमें निष्णात होनेपर जब आत्मानुभवका अभ्यास खूब दृढ़ हो जाता है—बाह्यविषयोंमें उसकी परिणति नहीं जाती—तब, परम उदासीन भावका अवलम्बन न लेते हुए भी, जगद्विषयक चिन्ताका अभाव हो जानेके कारण उसे यह जगत् काष्ठ-पाषाण-जैसा निश्चेष्ट जान पड़ता है। यह सब भेदविज्ञान और अभ्यास-अनभ्यासका माहात्म्य है॥ ८० ॥

ननु स्वभ्यस्तात्मधियः इति व्यर्थम्। शरीराद्भेदेनात्मनस्तत्स्वरूपविद्भ्यः श्रवणात्स्वयं चाऽन्येषां तत्स्वरूपप्रतिपादनान्मुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह—

**शृण्वन्नप्यन्यतः कामं वदन्नपि कलेवरात्।**
**नात्मानं भावयेद्भिन्नं यावत्तावन्न मोक्षभाक्॥८१॥**

टीका—अन्यत उपाध्यायादेः कामं अत्यर्थं शृण्वन्नपि कलेवराद्भिन्नमात्मानमाकर्णयन्नपि ततो भिन्नं तं स्वयमन्यान् प्रति वदन्नपि यावत्कलेवराद्भिन्नमात्मानं न भावयेत्। तावन्न मोक्षभाक् मोक्षभाजनं तावन्न भवेत्॥८१॥

यदि कोई शंका करे कि 'स्वभ्यस्तात्मधियः' यह पद जो पूर्वश्लोकमें दिया है वह व्यर्थ है—आत्मतत्त्वके अभ्यासमें परिपक्व होनेकी कोई जरूरत नहीं—क्योंकि शरीर और आत्माके स्वरूपके जाननेवालोंसे आत्मा शरीरसे भिन्न है ऐसा सुननेसे अथवा स्वयं दूसरोंको उस स्वरूपका प्रतिपादन करनेसे मुक्ति हो जायगी; इस शंकाके उत्तरमें कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—आत्माका स्वरूप (अन्यतः) उपाध्याय आदि गुरुओंके मुखसे (कामं) खूब इच्छानुसार (शृण्वन्नपि) सुनने पर तथा (कलेवरात्) अपने मुखसे (वदन्नपि) दूसरोंको बतलाते हुए भी (यावत्) जब तक (आत्मानं) आत्मस्वरूपको (भिन्नं) शरीरादि परपदार्थोंसे भिन्न (न भावयेत्) भावना नहीं की जाती। (तावत्) तब तक (मोक्षभाक् न) यह जीव मोक्षका अधिकारी नहीं हो सकता॥ ८१ ॥

**भावार्थ**—जीव और पुद्गलके स्वरूपको सुनकर तोतेकी तरहसे रट लेने और दूसरोंको सुना देने मात्रसे मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती। मुक्तिकी प्राप्तिके लिए आत्माको शरीरादिसे भिन्न अनुभव करनेकी खास जरूरत है। जब तक भावनाके बल पर यह अभ्यास दृढ़ नहीं होता तब तक कुछ भी आत्मकल्याण नहीं बन सकता॥ ८१ ॥

तद्भावनायां च प्रवृत्तोऽसौ किं कुर्यादित्याह—

**तथैव भावयेद्देहाद्व्यावृत्यात्मानमात्मनि।**
**यथा न पुनरात्मानं देहे स्वप्नेऽपि योजयेत्॥८२॥**

**टीका**—देहाद्व्यावृत्य शरीरात्पृथक्कृत्वा आत्मानं स्वस्वरूपं आत्मनि स्थितं तथैव भावयेत् शरीराद्भेदेन दृढतरभेदभावनाप्रकारेण भावयेत् । यथा पुनः स्वप्ने स्वप्नावस्थायां देहे उपलब्धेपि तत्र आत्मानं न योजयेत् देहमात्मतया नाध्यवस्येत् ॥८२॥

भेदविज्ञानकी भावनामें प्रवृत्त हुए अन्तरात्माको क्या करना चाहिये, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—अन्तरात्माको चाहिए कि वह ( देहात् ) शरीरसे ( आत्मानं ) आत्माको ( व्यावृत्य ) भिन्न अनुभव करके ( आत्मनि ) आत्मामें ही ( तथैव ) उस प्रकारसे ( भावयेत् ) भावना करे ( यथा पुनः ) जिस प्रकार से फिर ( स्वप्नेऽपि ) स्वप्नमें भी ( देहे ) शरीरकी उपलब्धि होनेपर उसमें ( आत्मानं ) आत्माको ( न योजयेत् ) योजित न करे । अर्थात् शरीरको आत्मा न समझ बैठे ।

**भावार्थ**—मोहकी प्रबलता-जन्य चिरकालका अज्ञान संस्कार जब हृदय से निकल जाता है तब स्वप्नमें भी इस जड़ शरीरमें आत्माकी बुद्धि नहीं होती । अतः उक्त संस्कारको दूर करनेके लिये भेदविज्ञानकी निरंतर भावना करनी चाहिये ॥ ८२ ॥

यथा परमौदासीन्यावस्थायां स्वपरविकल्पस्त्याज्यस्तथा व्रतविकल्पोऽपि । यतः—

**अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः ।**
**अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥८३॥**

**टीका**—अपुण्यमधर्मः अव्रतैर्हिंसादिविकल्पैः परिणतस्य भवति । पुण्यं धर्मो व्रतैः हिंसादिविरतिविकल्पैः परिणतस्य भवति । मोक्षः पुनस्तयोः पुण्यापुण्ययोर्व्ययो विनाशो । यथैव हि लोहशृङ्खला बंधहेतुस्तथा सुवर्णशृङ्खलाऽपि । यतो यथोभयशृङ्खलाभावाद्व्यवहारे मुक्तिस्तथा परमार्थेऽपीति । ततस्तस्मात् मोक्षार्थी अव्रतानीव इव शब्दो यथाऽर्थः यथाऽव्रतानि त्यजेत्तथा व्रतान्यपि ॥८३॥

जिस प्रकार परम उदासीन अवस्थामें स्व-परका विकल्प त्यागने योग्य होता है उसी प्रकार व्रतोंके पालनेका विकल्प भी त्याज्य है । क्योंकि—

**अन्वयार्थ**—( अव्रतैः ) हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहरूप पाँच अव्रतोंके अनुष्ठानसे ( अपुण्यम् ) पापका बंध होता है और ( व्रतैः ) अहिंसादिक पाँच व्रतोंके पालनेसे ( पुण्यं ) पुण्यका बंध होता है ( तयोः )

पुण्य और पाप दोनोंका ( व्ययः ) जो विनाश है और वही ( मोक्षः ) मोक्ष है ( ततः ) इसलिये ( मोक्षार्थी ) मोक्षके इच्छुक भव्य पुरुषको चाहिये कि ( अव्रतानि इव ) अव्रतोंकी तरह ( व्रतानि अपि ) व्रतोंको भी ( त्यजेत् ) छोड़ देवे।

**भावार्थ**—मोक्षार्थी पुरुषको मोक्षप्राप्तिके मार्गमें जिस प्रकार पंच अव्रत विघ्नस्वरूप हैं उसी प्रकार पाँच व्रत भी बाधक हैं, क्योंकि लोहेकी बेड़ी जिस प्रकार बन्धकारक है उसी प्रकार सोने की बेड़ी भी बंधकारक है। दोनों प्रकारकी बेड़ियोंका अभाव होनेपर जिस प्रकार लोकव्यवहार-में मुक्ति ( आजादी ) समझी जाती है उसी प्रकार परमार्थमें भी व्रत और अव्रत दोनोंके अभावसे मुक्ति मानी गई है। अतः मुमुक्षुको अव्रतोंकी तरह व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये ॥ ८३ ॥

कथं तानि त्यजेदिति तेषां त्यागक्रमं दर्शयन्नाह—

**अव्रतानि परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितः ।**
**त्यजेत्तान्यपि संप्राप्य परमं पदमात्मनः ॥८४॥**

**टीका**—**अव्रतानि** हिंसादीनि प्रथमतः **परित्यज्य व्रतेषु परिनिष्ठितो** भवेत्। पश्चात्तान्यपि **त्यजेत्**। किं कृत्वा ? **सम्प्राप्य**। किं तत् ? **परमं पदं** परमवीतरागता-लक्षणं क्षीणकषायगुणस्थानं। कस्य तत्पदं ? **आत्मनः** ॥ ८४ ॥

अब उनके छोड़नेका क्रम बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अव्रतानि ) हिंसादिक पंच अव्रतोंको ( परित्यज्य ) छोड़ करके ( व्रतेषु ) अहिंसादिक व्रतोंमें ( परिनिष्ठितः ) निष्ठावान् रहे अर्थात् उनका दृढ़ताके साथ पालन करे, बादको ( आत्मनः ) आत्माके ( परमं पदं ) रागद्वेषादिरहित परम वीतराग-पदको ( प्राप्य ) प्राप्त करके ( तानि अपि ) उन व्रतोंको भी ( त्यजेत् ) छोड़ देवे।

**भावार्थ**—प्रथम तो हिंसादिक पंच पापरूप अशुभ प्रवृत्तिको छोड़-कर अहिंसादिक व्रतोंके अनुष्ठानरूप शुभ प्रवृत्ति करनी चाहिये। साथ ही, अपना लक्ष शुद्धोपयोगकी ओर ही रखना चाहिये। जब आत्माके परमपदरूप शुद्धोपयोगकी—परमवीतरागतामय क्षीणकषायनामक गुण-स्थानकी—सम्प्राप्ति हो जावे तब उन व्रतोंको भी छोड़ देना चाहिये। लेकिन जब तक वीतराग दशा न हो जावे तबतक व्रतोंका अवलम्बन रखना चाहिये, जिससे अशुभकी ओर प्रवृत्ति न हो सके ॥८४॥

कुतोऽव्रत-व्रतविकल्पपरित्यागे परमपदप्राप्तिरित्याह—

**यदन्तर्जल्पसंपृक्तमुत्प्रेक्षाजालमात्मनः ।**
**मूलं दुःखस्य तन्नाशे शिष्टमिष्टं परं पदम् ॥८५॥**

**टीका**—**यदुत्प्रेक्षाजालं** विकल्पजालं । कथम्भूतं ? **अन्तर्जल्पसंपृक्तं** अन्तर्वचनव्यापारोपेतं । **आत्मनो दुःखस्य मूलं** कारणं । **तन्नाशे** तस्योत्प्रेक्षाजालस्य विनाशे । **इष्टमभिलषितं** यत्पदं **तच्छिष्टं** प्रतिपादितम् ॥ ८५ ॥

किस प्रकार अव्रतों और व्रतोंके विकल्पको छोड़नेपर परमपदकी प्राप्ति होगी, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अन्तर्जल्पसंपृक्तं ) अंतरंगमें वचन व्यापारको लिये हुए ( यत् उत्प्रेक्षाजालं ) जो अनेक प्रकारकी कल्पनाओंका जाल है वही ( आत्मनः ) आत्माके ( दुःखस्य ) दुःखका ( मूलं ) मूल कारण है ( तन्नाशे ) उस विविध संकल्प विकल्परूप कल्पनाजालके विनाश होनेपर ( इष्टं ) अपने प्रिय हितकारी ( परं पदं शिष्टं ) परमपदको प्राप्ति कही गई है ।

**भावार्थ**—यह जीव अपने चिदानन्दमय परम अतीन्द्रिय अविनाशी निर्विकल्प स्वरूपको भूलकर जब तक बाह्यविषयोंको अपनाता हुआ दुःखोंके मूलकारण अन्तर्जल्परूपी अनेक संकल्प-विकल्पोंके जालमें फँसा रहता है—मन-ही-मन कुछ गुनगुनाता अथवा हवासे बातें करता है—तब तक इसको परमपदकी प्राप्ति नहीं हो सकती और न कोई सुख ही मिल सकता है । सुखमय परमपदकी प्राप्ति उसीको होती है जो अन्तर्जल्परूपी उत्प्रेक्षाजालका सर्वथा त्याग करके अपने ही चैतन्य चमत्काररूप विज्ञानघन आत्मामें लीन हो जाता है ॥८५॥

तस्य चोत्प्रेक्षाजालस्य नाशं कुर्वाणोऽनेन क्रमेण कुर्यादित्याह—

**अव्रती व्रतमादाय व्रती ज्ञानपरायणः ।**
**परात्मज्ञानसम्पन्नः स्वयमेव परो भवेत् ॥८६॥**

**टीका**—अव्रतित्वावस्थाभावि विकल्पजालं **व्रतमादाय** विनाशयेत् । व्रतित्वावस्थाभावि पुनर्विकल्पजालं **ज्ञानपरायणो** ज्ञानभावनानिष्ठो भूत्वा परमवीतरागतावस्थायां विनाशयेत् । सयोगिजिनावस्थायां **परात्मज्ञानसम्पन्नः** परं सकलज्ञानेभ्यः उत्कृष्टं तच्च तदात्मज्ञानं च केवलज्ञानं तेन सम्पन्नो युक्तः **स्वयमेव** गुर्वाद्युपदेशानपेक्षः **परः** सिद्धस्वरूपः परमात्मा **भवेत्** ॥ ८६ ॥

उस उत्प्रेक्षाजालका नाश करनेके लिये उद्यमी मनुष्य किस क्रमसे उसका नाश करे, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अव्रती ) हिंसादिक पंच अव्रतों-पापोंमें अनुरक्त हुआ मानव ( व्रतं आदाय ) व्रतोंको ग्रहण करके, अव्रतावस्थामें होनेवाले विकल्पोंका नाश करे, तथा ( व्रती ) अहिंसादिक व्रतोंका धारक ( ज्ञान-परायणः ) ज्ञानभावनामें लीन होकर, व्रतावस्थामें होने वाले विकल्पोंका नाश करे और फिर अरहंत-अवस्थामें ( परात्मज्ञानसम्पन्नः ) केवलज्ञान-से युक्त होकर ( स्वयमेव ) स्वयं ही बिना किसीके उपदेशके ( परः भवेत् ) परमात्मा होवे—सिद्धस्वरूपको प्राप्त करे।

**भावार्थ**—विकल्पजालको जीतकर सिद्धि प्राप्त करनेका क्रम अव्रती-से व्रती होना, व्रतीसे ज्ञानभावनामें लीन होना, ज्ञानभावनामें लीन होकर केवलज्ञानको प्राप्त करना और केवलज्ञानसे सम्पन्न होकर सिद्ध-पदको प्राप्त करना है ॥८६॥

यथा च व्रतविकल्पो मुक्तिहेतुर्न भवति तथा लिङ्गविकल्पोऽपीत्याह—

**लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं देह एवात्मनो भवः।**
**न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये लिङ्गकृताऽऽग्रहाः ॥८७॥**

**टीका**—लिङ्गं जटाधारणनग्नत्वादि देहाश्रितं दृष्टं शरीरधर्मतया प्रतिपन्नं। देह एवात्मनो भवः संसारः। यत एवं तस्माद्ये लिङ्गकृताग्रहाः लिंगमेव मुक्तेर्हेतु-रिति कृताभिनिवेशास्ते न मुच्यन्ते। कस्मात् भवात् ॥ ८७ ॥

जिस प्रकार व्रतोंका विकल्प मोक्षका कारण नहीं उसी प्रकार लिंगका विकल्प भी मोक्षका कारण नहीं हो सकता, ऐसा प्रतिपादन करते हैं—

**अन्वयार्थ**—( लिङ्गं ) जटा धारण करना अथवा नग्न रहना आदि वेष ( देहाश्रितं दृष्टं ) शरीरके आश्रित देखा जाता है ( देह एव ) और शरीर ही ( आत्मनः ) आत्माका ( भवः ) संसार है ( तस्मात् ) इसलिये ( ये लिङ्गकृताग्रहाः ) जिनको लिङ्गका ही आग्रह है—बाह्य वेष धारण करनेसे मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसी हठ है ( ते ) वे पुरुष ( भवात् ) संसारसे ( न मुच्यन्ते ) नहीं छूटते हैं।

**भावार्थ**—जो जीव केवल लिंग अथवा बाह्य वेषको ही मोक्षका कारण मानते हैं वे देहात्मदृष्टि हैं और इसलिये मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते। क्योंकि लिंगका आधार देह है और देह ही इस आत्माका

संसार है—देहके अभावमें संसार रहता नहीं। जो लिंगके आग्रही हैं—लिंगको ही मुक्तिका कारण समझते हैं—संसारको अपनाये हुए हैं, और जो संसारके आग्रही होते हैं—उसीकी हठ पकड़े रहते हैं—वे संसारसे नहीं छूट सकते ॥८७॥

येऽपि 'वर्णानां ब्राह्मणो गुरुरतः स एव परमपदयोग्य' इति वदन्ति तेऽपि न मुक्तियोग्या इत्याह—

**जातिर्देहाश्रिता दृष्टा देह एवात्मनो भवः।**
**न मुच्यन्ते भवात्तस्मात्ते ये जातिकृताग्रहाः ॥८८॥**

**टीका**—जातिर्ब्राह्मणत्वादिर्देहाश्रितेत्यादि सुगमं ॥ ८८ ॥

जो ऐसा कहते हैं कि 'वर्णोंका ब्राह्मण गुरु है, इसलिए वही परमपदके योग्य है' वे भी मुक्तिके योग्य नहीं हैं, ऐसा बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( जातिः ) ब्राह्मण आदि जाति ( देहाश्रिता दृष्टा ) शरीरके आश्रित देखी गई है ( देह एव ) और शरीर ही ( आत्मनः भवः ) आत्माका संसार है ( तस्मात् ) इसलिये ( ये ) जो जीव ( जातिकृताग्रहा ) मुक्तिकी प्राप्तिके लिये जातिका हठ पकड़े हुए हैं ( तेऽपि ) वे भी ( भवात् ) संसारसे ( न मुच्यन्ते ) नहीं छूट सकते हैं।

**भावार्थ**—लिंगकी तरह जाति भी देहाश्रित है और इसलिए जातिका दुराग्रह रखने वाले भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते। उनका जाति-विषयक आग्रह भी संसारका ही आग्रह है और इसलिए वे संसारसे कैसे छूट सकते हैं? नहीं छूट सकते ॥८८॥

तर्हि ब्राह्मणत्वादिजातिविशिष्टो निर्वाणादिदीक्षया दीक्षितो मुक्तिं प्राप्नोतीति वदन्तं प्रत्याह—

**जातिलिंगविकल्पेन येषां च समयाग्रहः।**
**तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥८९॥**

**टीका**—जातिलिंगरूपोविकल्पो भेदस्तेन येषां शैवादीनां समयाग्रहः आगमानुबंधः उत्तमजातिविशिष्टं हि लिंगं मुक्तिहेतुरित्यागमे प्रतिपादितमतस्तावन्मात्रेणैव मुक्तिरित्येवंरूपो येषामागमाभिनिवेशः तेऽपि न प्राप्नुवन्त्येव परमं पदमात्मनः ॥ ८९ ॥

तब तो ब्राह्मण आदि जातिविशिष्ट मानव ही साधुवेष धारणकर मुक्ति प्राप्त कर सकता है, ऐसा कहने वालोंके प्रति कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( येषां ) जिन जीवोंका ( जातिलिंगविकल्पेन ) जाति

और वेषके विकल्पसे मुक्ति होती है ऐसा ( समयाग्रहः ) आगम-संबंधी आग्रह है—ब्राह्मण आदि जातिमें उत्पन्न होकर अमुक वेष धारण करनेसे ही मुक्ति होती है ऐसा आगमानुबन्धि हठ है ( ते अपि ) वे पुरुष भी ( आत्मनः ) आत्माके ( परमं पदं ) परमपदको ( न प्राप्नुवन्त्येव ) प्राप्त नहीं कर सकते हैं— संसारसे मुक्त नहीं हो सकते हैं।

**भावार्थ**—जिनका ऐसा आग्रह है कि अमुक जातिवाला अमुक वेष धारण करे तभी मुक्तिकी प्राप्ति होती है ऐसा आगममें कहा है, वे भी मुक्तिको प्राप्त नहीं हो सकते; क्योंकि जाति और लिंग दोनों ही जब देहाश्रित हैं और देह ही आत्माका संसार है तब संसारका आग्रह रखनेवाले उससे कैसे छूट सकते हैं ? ॥८९॥

तत्पदप्राप्त्यर्थं जात्यादिविशिष्टे शरीरे निर्ममत्वसिद्धयर्थं भोगेभ्यो व्यावृत्यापि पुनर्मोहवशाच्छरीर एवानुबन्धं प्रकुर्वन्तीत्याह—

**यत्त्यागाय निवर्तन्ते भोगेभ्यो यदवाप्तये ।**
**प्रीतिं तत्रैव कुर्वन्ति द्वेषमन्यत्र मोहिनः ॥९०॥**

**टीका**—यस्य शरीरस्य त्यागाय निर्ममत्वाय **भोगेभ्यः** स्वग्वनितादिभ्यो **निवर्तन्ते**। तथा **यदवाप्तये** यस्य परमवीतरागत्वस्यावाप्तये प्राप्तिनिमित्तं भोगेभ्यो निवर्तन्ते। **प्रीतिमनुबन्धं तत्रैव** शरीरे आबद्ध एव **कुर्वन्ति द्वेषं** पुनरन्यत्र परमवीतरागत्वे। के ते ? **मोहिनो मोहवन्तः** ॥ ९० ॥

उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ब्राह्मणादि जातिविशिष्ट शरीरमें निर्ममत्वको सिद्ध करनेके लिये भोगोंको छोड़ देनेपर भी अज्ञानी जीव मोहके वश होकर शरीरमें ही अनुराग करने लग जाते हैं, ऐसा कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—[ यत्त्यागाय ] जिस शरीरके त्यागके लिये—उससे ममत्व दूर करनेके लिये—और ( यदवाप्तये ) जिस परम वीतराग पदको प्राप्त करनेके लिये [ भोगेभ्यः ] इन्द्रियोंके भोगोंसे ( निवर्तन्ते ) निवृत्त होते हैं अर्थात् उनका त्याग करते हैं ( तत्रैव ) उसी शरीर और इन्द्रियोंके विषयोंमें ( मोहिनः ) मोही जीव ( प्रीतिं कुर्वन्ति ) प्रीति करते हैं और ( अन्यत्र ) वीतरागता आदिके साधनोंमें ( द्वेषं कुर्वन्ति ) द्वेष करते हैं।

**भावार्थ**—मोहकी बड़ी ही विचित्र लीला है। जिस शरीरसे ममत्व हटानेके लिये भोगोंसे निवृत्ति धारण की जाती है—संयम ग्रहण किया

जाता है—उसीसे मोही जीव पुनः प्रीति करने लगता है और जिस वीतरागभावकी प्राप्तिके लिये भोगोंसे निवृत्ति धारण की जाती है—संयमका आश्रय लिया जाता है—उसीसे मोही जीव द्वेष करने लगता है। ऐसी हालतमें मोहपर विजय प्राप्त करनेके लिये बड़ी ही सावधानी-की जरूरत है और वह तभी बन सकती है जब साधककी दृष्टि शुद्ध हो। दृष्टिमें विकार आते ही सारा खेल बिगड़ जाता है—अपकारीको उपकारी और उपकारीको अपकारी समझ लिया जाता है॥९०॥

तेषां देहे दर्शनव्यापारविपर्यासं दर्शयन्नाह—

**अनन्तरज्ञः संधत्ते दृष्टिं पंगोर्यथाऽन्धके।**
**संयोगात् दृष्टिमङ्गेऽपि संधत्ते तद्वदात्मनः ॥९१॥**

**टीका**—**अनन्तरज्ञो** भेदाग्राहकः पुरुषो यथा **पंगोर्दृष्टिमन्धके सन्धत्ते आरोप**यति। कस्मात् **संयोगात्** पंग्वन्धयो सम्बन्धमाश्रित्य। **तद्वत्** तथा देहात्मनोः संयोगादात्मनो **दृष्टिमंगेऽपि सन्धत्ते** अंगं पश्यतीति [ मन्यते ] **मोहाभिभूतो बहिरात्मा** ॥ ९१ ॥

मोही जीवोंके शरीरमें दर्शनव्यापारका विपर्यास किस प्रकार होता है, उसे दिखलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अनन्तरज्ञः ) भेदज्ञान न रखने वाला पुरुष ( यथा ) जिस प्रकार ( संयोगात् ) संयोगके कारण भ्रममें पड़कर—संयुक्त हुए लँगड़े और अंधेकी क्रियाओंको ठीक न समझकर ( पंगोर्दृष्टिं ) लँगड़ेकी दृष्टिको ( अन्धके ) अन्धे पुरुषमें ( संधत्ते ) आरोपित करता है—यह समझता है कि अन्धा स्वयं देखकर चल रहा है—( तद्वत् ) उसी प्रकार ( आत्मनः दृष्टिं ) आत्माकी दृष्टिको ( अङ्गेऽपि ) शरीरमें भी (सन्धत्ते) आरोपित करता है—यह समझने लगता है कि यह शरीर ही देखता जानता है।

**भावार्थ**—एक लँगड़ा अन्धेके कंधे पर चढ़ा जा रहा है और ठीक मार्गसे चलनेके लिये उस अन्धेको इशारा करता जाता है, मार्ग चलनेसे दृष्टि लँगड़ेकी और पद टाँगें अन्धेकी काम करती हैं। इस भेदको ठीक न जानने वाला कोई पुरुष यदि यह समझ ले कि यह अन्धा ही कैसी सावधानीसे देखकर चल रहा है तो वह जिस प्रकार उसका भ्रम होगा उसी प्रकार शरीरारूढ आत्माकी दर्शनादिक क्रियाओंको न समझकर उन्हें शरीरकी मानना भी भ्रम है और इसका कारण आत्मा और शरीर

दोनोंका एक क्षेत्रावगाहरूप सम्बन्ध है। आत्मा और शरीरके भेदको ठीक न समझने वाला बहिरात्मा ही ऐसे भ्रमका शिकार होता है ॥९१॥

अन्तरात्मा किं करोतीत्याह—

**दृष्टभेदो यथा दृष्टिं पङ्गोरन्धे न योजयेत् ।**
**तथा न योजयेद्देहे दृष्टात्मा दृष्टिमात्मनः ॥९२॥**

टीका—दृष्टभेदः पंग्वन्धयोः प्रतिपन्नभेदः पुरुषो यथा पंगोर्दृष्टिमन्धे न योजयेत्। तथा आत्मनो दृष्टिं देहे न योजयेत्। कोऽसौ ? दृष्टात्मा देहभेदेन प्रतिपन्नात्मा ॥ ९२ ॥

संयोगकी ऐसी अवस्थामें अन्तरात्मा क्या करता है, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( दृष्टभेदः ) जो लँगड़े और अन्धेके भेदका तथा उनकी क्रियाओंको ठीक समझता है वह ( यथा ) जिस प्रकार ( पंगोर्दृष्टिं ) लँगड़ेकी दृष्टिको अन्धे पुरुषमें ( न योजयेत् ) नहीं जोड़ता—अन्धेको मार्ग देखकर चलने वाला नहीं मानता—( तथा ) उसी प्रकार ( दृष्टात्मा ) आत्माको शरीरादि परपदार्थोंसे भिन्न अनुभव करनेवाला अन्तरात्मा ( आत्मनः दृष्टिं ) आत्माकी दृष्टिको—उसके ज्ञानदर्शन-स्वभावको ( देहे ) शरीरमें ( न योजयेत् ) नहीं जोड़ता है—शरीरको ज्ञाता-दृष्टा नहीं मानता है।

**भावार्थ**—जिस पुरुषको अन्धे और लँगड़ेका भेद ठीक मालूम होता है ऐसा समझदार मनुष्य जिस प्रकार दोनोंके संयुक्त होनेपर भ्रममें नहीं पड़ता—अन्धेको दृष्टिहीन और लँगड़ेको दृष्टिवान् समझता है—उसी प्रकार भेदविज्ञानी पुरुष आत्मा और शरीरके संयोगवश भ्रममें नहीं पड़ता—शरीरको चेतनारहित जड़ और आत्माको ज्ञानदर्शनस्वरूप ही समझता है, कदाचित् भी शरीरमें आत्माकी कल्पना नहीं करता ॥९२॥

बहिरन्तरात्मनोः काऽवस्था भ्रान्तिः का वाऽभ्रान्तिरित्याह—

**सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमोऽनात्मदर्शिनाम् ।**
**विभ्रमोऽक्षीणदोषस्य सर्वावस्थाऽऽत्मदर्शिनः ॥९३॥**

टीका—सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव विभ्रमः प्रतिभासते। केषाम् ? अनात्मदर्शिनां यथावदात्मस्वरूपपरिज्ञानरहितानां बहिरात्मनाम्। आत्मदर्शिनोऽन्तरात्मनः पुनर-

**क्षीणबोधस्य** मोहाक्रान्तस्य बहिरात्मनः सम्बंधिन्यः **सर्वावस्थाः** सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थावत् जाग्रत्प्रबुद्धानुन्मत्ताद्यवस्थाऽपि **विभ्रमः** प्रतिभासते यथावद्वस्तुप्रतिभासाभावात् । अथवा—**सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव** एवकारोऽपिशब्दार्थे तेन सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थाऽपि **न विभ्रमः** केषाम् ? **आत्मदर्शिनां** दृढतराभ्यासात्तदवस्थायामपि आत्मनि तेषाम-विपर्यासात् स्वरूपसंवित्तिवैकल्यासम्भवाच्च यदि सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मदर्शनं स्यात्तदा जाग्रदवस्थावत्तत्राप्यात्मनः कथं सुप्तादिव्यपदेश इत्यप्ययुक्तम् यतस्तत्रे-न्द्रियाणां स्वविषये निद्रया प्रतिबन्धात्तद्व्यपदेशो न पुनरात्मदर्शनप्रतिबन्धादिति । तर्हि कस्याऽसौ **विभ्रमो भवति** ? **अक्षीणबोधस्य** बहिरात्मनः । कथम्भूतस्य ? **सर्वा-वस्थात्मदर्शिनः** सर्वावस्थां बालकुमारादिलक्षणां सुप्तोन्मत्तादिरूपां चात्मेति पश्य-त्येवं शीलस्य ॥ ९३ ॥

बहिरात्मा और अन्तरात्माको कौनसी अवस्था भ्रमरूप और कौन-सी भ्रमरहित मालूम होती है उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अनात्मदर्शिनाम् ) आत्मस्वरूपका वास्तविक परिज्ञान जिन्हें नहीं है ऐसे बहिरात्माओंको ( सुप्तोन्मत्तादि अवस्था एव ) केवल सोने व उन्मत्त होनेकी अवस्था ही ( विभ्रम ) भ्रमरूप मालूम होती है। किन्तु ( आत्मदर्शिनः ) आत्मानुभवी अन्तरात्माको ( अक्षीणदोषस्य ) मोहाक्रान्त बहिरात्माकी ( सर्वावस्थाः ) सर्व ही अवस्थाएँ—सुप्त और उन्मत्तादि अवस्थाओंकी तरह जाग्रत्, प्रबुद्ध और उन्मत्तादि अवस्थाएँ भी ( विभ्रमः ) भ्रमरूप मालूम होती हैं।

**द्वितीय अर्थ**—टीकाकारने 'अनात्मदर्शिनां' पदको 'न आत्मदर्शिनां' ऐसा मानकर और 'सर्वावस्थात्मदर्शिनां' को एक पद रखकर तथा 'एव' का अर्थ 'भी' लगाकर जो दूसरा अर्थ किया है वह इस प्रकार है—

आत्मदर्शी पुरुषोंकी सुप्त व उन्मत्त अवस्थाएँ भी भ्रमरूप नहीं होतीं; क्योंकि दृढतर अभ्यासके कारण उनका चित्त आत्मरससे भीगा रहता है—स्वरूपसे उनकी च्युति नहीं होती—इन्द्रियोंकी शिथिलता या रोगादिके वश उन्हें कदाचित् मूर्च्छा भी आ जाती है तो भी उनका आत्मानुभवरूप संस्कार नहीं छूटता—वह बराबर बना ही रहता है। किन्तु अक्षीणदोष बहिरात्माके, जो बाल युवादि सभी अवस्थारूप आत्माको अनुभव करता है, वह सब विभ्रम होता है।

**भावार्थ**—जिनको आत्मस्वरूपका ज्ञान नहीं है उनको केवल सुप्त व उन्मत्त जैसी अवस्थाएँ ही भ्रमस्वरूप मालूम होती हैं किन्तु आत्म-दर्शियोंको मोहके वशीभूत हुए रागी पुरुषोंकी सभी अवस्थाएँ भ्रमरूप

जान पड़ पड़ती है--भले ही वे जागृत, प्रबुद्ध तथा अनुन्मत्त-जैसी अवस्थाएँ ही क्यों न हों। वास्तवमें बहिरात्मा और अन्तरात्माकी अवस्थामें बड़ा भेद है—अन्तरात्मा आत्मस्वरूपमें सदा जाग्रत् रहता है, जबकि बहिरात्माकी इससे विपरीत दशा होती है ॥९३॥

ननु सर्वावस्थात्मदर्शिनोऽप्यशेषशास्त्रपरिज्ञानान्निद्रारहितस्य मुक्तिर्भविष्यतीति वदन्तं प्रत्याह—

**विदिताशेषशास्त्रोऽपि न जाग्रदपि मुच्यते ।**
**देहात्मदृष्टिर्ज्ञातात्मा सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते ॥९४॥**

**टीका**—**न मुच्यते** न कर्मरहितो भवति । कोऽसौ ? **देहात्मदृष्टिर्बहिरात्मा** । कथम्भूतोऽपि ? **विदिताशेषशास्त्रोऽपि** परिज्ञाताशेषशास्त्रोऽपि **देहात्मदृष्टिर्यतः** देहात्मनोर्भेदरुचिरहितो यतः पुनरपि कथम्भूतोऽपि ? **जाग्रदपि** निद्रयाऽनभिभूतोऽपि । यस्तु **ज्ञातात्मा** परिज्ञातात्मस्वरूपः स **सुप्तोन्मत्तोऽपि मुच्यते** विशिष्टां कर्मनिर्जरां करोति दृढतराभ्यासात्सुप्ताद्यवस्थायामप्यात्मस्वरूपसंवित्त्यवैकल्यात् ॥ ९४ ॥

यदि कोई कहे कि बाल वृद्धादि सर्व अवस्थारूप आत्माको मानने वाला सम्पूर्ण शास्त्रोंका ज्ञान प्राप्त कर लेनेसे निद्रारहित हुआ मुक्तिको प्राप्त हो जायेगा, तो उसके प्रति आचार्य कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( देहात्मदृष्टिः ) शरीरमें आत्मबुद्धि रखनेवाला बहिरात्मा ( विदिताशेषशास्त्रः अपि ) सम्पूर्ण शास्त्रोंका जानने वाला होनेपर भी तथा ( जाग्रत् अपि ) जागता हुआ भी ( न मुच्यते ) कर्मबन्धनसे नहीं छूटता है । किन्तु ( ज्ञातात्मा ) जिसने आत्माके स्वरूपको देहसे भिन्न अनुभव कर लिया है ऐसा विवेकी अन्तरात्मा ( सुप्तोन्मत्तः अपि ) सोता और उन्मत्त हुआ भी ( मुच्यते ) कर्मबन्धनसे मुक्त होता है—विशिष्टरूपसे कर्मोंकी निर्जरा करता है ।

**भावार्थ**—अनेक शास्त्रोंके जानने तथा जाग्रत् रहनेपर भी भेद-विज्ञान एवं देहसे आत्माको भिन्न करनेकी रुचिके बिना मुक्तिकी प्राप्ति नहीं हो सकती । देहात्मदृष्टिका शास्त्रज्ञान तोतेकी राम-राम रटनके समान भाववासनाके बिना आत्महितका साधक नहीं हो सकता । प्रत्युत इसके, भेद-विज्ञानी होनेपर सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाएँ भी आत्माका कोई विशेष अहित नहीं कर सकतीं; क्योंकि दृढ़तर अभ्यासके वश उन अवस्थाओंमें भी आत्मस्वरूप संवेदनसे च्युति न होनेके कारण

विशिष्टरूपसे कर्मनिर्जरा होती रहती है, और यह कर्मनिर्जरा ही बन्धनका पर्यवसान एवं मुक्तिका निशान है। अतएव भेदविज्ञानको प्राप्त करके उसमें अपने अभ्यासको दृढ़ करना सर्वोपरि मुख्य और उपादेय है ॥ ९४ ॥

कुतस्तदा तद्वैकल्यमित्याह—

**यत्रैवाहितधीः पुंसः श्रद्धा तत्रैव जायते ।**
**यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते ॥९५॥**

टीका—**यत्रैव** यस्मिन्नेव विषये **आहितधीः** दत्तावधाना बुद्धिः। "यत्रात्महितधीरपि च पाठः यत्रात्मनो हितमुपकारस्तत्राहितधीरिति।" स हितमुपकारक इति बुद्धिः। कस्य ? पुंसः। **श्रद्धा** रुचिस्तस्य **तत्रैव** तस्मिन्नेव विषये **जायते**। **यत्रैव जायते श्रद्धा चित्तं तत्रैव लीयते** आसक्तं भवति ॥ ९५ ॥

सुप्तादि अवस्थाओंमें भी स्वरूप संवेदन क्योंकर बना रहता है, इस बातको स्पष्ट करते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यत्र एव ) जिस किसी विषयमें ( पुंसः ) पुरुषको ( आहितधीः ) दत्तावधानरूप बुद्धि होती है ( तत्रैव ) उसी विषयमें उसको ( श्रद्धा जायते ) श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है और ( यत्र एव ) जिस विषयमें ( श्रद्धा जायते ) श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है ( तत्रैव ) उस विषयमें ही ( चित्तं लीयते ) उसका मन लीन हो जाता है—तन्मय बन जाता है।

**भावार्थ**—जिस विषयमें किसी मनुष्यकी बुद्धि संलग्न होती है—खूब सावधान रहती है—उसीमें आसक्ति बढ़कर उसकी श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, और जहाँ श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है वहीं चित्त लीन रहता है। चित्तकी यह लीनता ही सुप्त और उन्मत्त-जैसी अवस्थाओंमें मनुष्यको उस विषयकी ओरसे हटने नहीं देती—सोतेमें भी वह उसीके स्वप्न देखता है और पागल होकर भी उसीकी बातें किया करता है ॥९५॥

क्व पुनरनासक्तं चित्तं भवतीत्याह—

**यत्रानाहितधीः पुंसः श्रद्धा तस्मान्निवर्तते ।**
**यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः ॥९६॥**

टीका—**यत्र** यस्मिन्विषये **अनाहितधीरदत्तावधाना बुद्धिः**। 'यत्रैवाहितधीरिति च पाठः यत्र च अहितधीरनुपकारकबुद्धिः।' **कस्य ? पुंसः। तस्माद्विषयात्स-**

काशात् श्रद्धा निवर्तते । यस्मान्निवर्तते श्रद्धा कुतश्चित्तस्य तल्लयः तस्मिन् विषये लय आसक्तिस्तल्लयः कुतो ? नैव कुतश्चिदपि ॥ ९६ ॥

अब चित्त कहाँपर अनासक्त होता है, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( यत्र ) जिस विषयमें ( पुंसः ) पुरुषकी (अनाहितधीः) बुद्धि दत्तावधानरूप नहीं होती ( तस्मात् ) उसमे ( श्रद्धा ) रुचि ( निवर्तते ) हट जाती है—दूर हो जाती है ( यस्मात् ) जिससे ( श्रद्धा ) रुचि ( निवर्तते ) हट जाती है ( चित्तस्य ) चित्तकी ( तल्लयः कुतः ) उस विषयमें लीनता कैसे हो सकती है ? अर्थात् नहीं होती ।

**भावार्थ**—जिस विषयमें किसी मनुष्यकी बुद्धि संलग्न नहीं होती—भले प्रकार सावधान नहीं रहती—उसमेंसे अनासक्ति बढ़कर श्रद्धा उठ जाती है, और जहाँसे श्रद्धा उठ जाती है वहाँ चित्तकी लीनता नहीं हो सकती। अतः किसी विषयमें आसक्ति न होनेका रहस्य बुद्धिको उस विषयकी ओर अधिक न लगाना ही है—बुद्धिका जितना कम व्यापार उस तरफ किया जायगा उसे अहितकारी समझकर जितना कम योग दिया जायगा उतनी ही उस विषयसे अनासक्ति होती जायगी और फिर सुप्त तथा उन्मत्त अवस्था हो जाने पर भी उस ओर चित्तकी वृत्ति नहीं जायगी ॥९६॥

यत्र च चित्तं विलीयते तद्ध्येयं भिन्नमभिन्नं च भवति, तत्र भिन्नात्मनि ध्येये फलमुपदर्शयन्नाह—

**भिन्नात्मानमुपास्यात्मा परो भवति तादृशः ।**
**वर्तिर्दीपं यथोपास्य भिन्ना भवति तादृशी ॥ ९७ ॥**

**टीका**—भिन्नात्मानमाराधकात् पृथग्भूतमात्मानमर्हत्सिद्धरूपं उपास्याराध्य आत्मा आराधकः पुरुषः परः परमात्मा भवति तादृशोऽर्हत्सिद्धस्वरूपसदृशः । अत्रैवार्थे दृष्टान्तमाह—वर्तिरित्यादि । दीपाद्भिन्ना वर्तिर्यथा दीपमुपास्य प्राप्य तादृशी भवति दीपरूपा भवति ॥ ९७ ॥

जिस विषयमें चित्तलीन होना चाहिये वह ध्येय दो प्रकारका है—एक भिन्न, दूसरा अभिन्न । भिन्नात्मा ध्येयमें लीनताका फल क्या होगा, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( आत्मा ) यह आत्मा ( भिन्नात्मानं ) अपनेसे भिन्न अर्हन्त सिद्धरूप परमात्माकी ( उपास्य ) उपासना-आराधना करके ( तादृशः ) उन्हींके समान ( परः भवति ) परमात्मा हो जाता है

( यथा ) जैसे ( भिन्ना वर्तिः ) दीपकसे भिन्न अस्तित्व रखनेवाली बत्ती भी ( दीपं उपास्य ) दीपककी आराधना करके उसका सामीप्य प्राप्त करके ( तादृशी ) दीपक स्वरूप ( भवति ) हो जाती है।

**भावार्थ**—जिसमें चित्तको लगाना चाहिये ऐसा आत्मध्येय दो प्रकारका है—एक तो स्वयं अपना आत्मा, जिसे अभिन्न ध्येय कहते हैं; और दूसरा वह भिन्न आत्मा जिसमें आत्मगुणोंका पूर्ण विकास हो गया हो, जैसे अर्हन्त-सिद्धका आत्मा, और जिसे भिन्नध्येय समझना चाहिये। ऐसे भिन्न ध्येयकी उपासनासे भी आत्मा परमात्मा बन जाता है। इसको समझानेके लिए बत्ती और दीपकका दृष्टान्त बड़ा ही सुन्दर दिया गया है। बत्ती अपना अस्तित्व और व्यक्तित्व भिन्न रखते हुए भी जब दीपककी उपासनामें तन्मय होती है—दीपकका सामीप्य प्राप्त करती है—तो जल उठती है और दीपकस्वरूप बन जाती है। यही भिन्नात्मध्येयरूप अर्हन्त-सिद्धकी उपासनाका फल है॥ ९७॥

इदानीमभिन्नात्मनोपासने फलमाह—

**उपास्यात्मानमेवात्मा जायते परमोऽथवा ।**
**मथित्वाऽऽत्मानमात्मैव जायतेऽग्निर्यथा तरुः ॥ ९८ ॥**

**टीका**—**अथवा आत्मानमेव** चित्स्वरूपमेव चिदानन्दमयमुपास्य **आत्मा परमः** परमात्मा **जायते**। अमुमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण समर्थयमानः प्राह—मथित्वेत्यादि। **यथाऽऽत्मानमेव मथित्वा** घर्षयित्वा तरुरात्मा तरुरूपः स्वभावः स्वत एवाग्निर्**जायते** ॥ ९८ ॥

अब अभिन्नात्माकी उपासनाका फल बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अथवा ) अथवा ( आत्मा ) यह आत्मा ( आत्मानम् ) अपने चित्स्वरूपको ही ( उपास्य ) चिदानन्दमय रूपसे आराधन करके ( परमः ) परमात्मा ( जायते ) हो जाता है ( यथा ) जैसे ( तरुः ) बाँसका वृक्ष ( आत्मानं ) अपनेको ( आत्मैव ) अपनेसे ही ( मथित्वा ) रगड़कर ( अग्निः ) अग्निरूप ( जायते ) हो जाता है।

**भावार्थ**—जिस प्रकार बाँसका वृक्ष बाँसके साथ रगड़ खाकर अग्निरूप हो जाता है उसी प्रकार यह आत्मा भी आत्माके आत्मीय गुणोंकी आराधना करके परमात्मा बन जाता है। बाँसके वृक्षमें जिस प्रकार अग्नि शक्तिरूपसे विद्यमान होती है और अपने ही बाँसरूपके साथ घर्षणका निमित्त पाकर प्रकट होती है उसी प्रकार आत्मामें भी पूर्ण-

ज्ञानादि गुण शक्तिरूपसे विद्यमान होते हैं और वे आत्माका आत्माके साथ संघर्ष होनेपर प्रकट हो जाते हैं। अर्थात् जब आत्मा आत्मीय गुणोंकी प्राप्तिके लिये अपने अन्य बाह्याभ्यंतर संकल्प-विकल्परूप व्यापारोंसे उपयोगको हटाकर स्वरूप-चिंतनमें एकाग्र कर देता है तो उसके वे गुण प्रकट हो जाते हैं—उस संघर्षसे ध्यानरूपी अग्नि प्रकट होकर कर्मरूपी ईंधनको जला देती है। और तभी वह आत्मा परमात्मा बन जाता है ॥ ९८ ॥

उक्तमर्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्नाह—

**इतीदं भावयेन्नित्यमवाचांगोचरं पदम् ।**
**स्वत एव तदाप्नोति यतो नावर्तते पुनः ॥ ९९ ॥**

टीका—**इति** एवमुक्तप्रकारेण **इदं** भिन्नमभिन्नं चात्मस्वरूपं **भावयेत्** **नित्यं** सर्वदा। ततः किं भवति ? **तत्पदं** **अवाप्नोति** । किं तत्पदं मोक्षस्थानं । कथम्भूतं ? **अवाचांगोचरं** वचनैरनिर्देश्यं । कथं तत्प्राप्नोति ? **स्वत एव** आत्मनैव परमार्थतो न पुनर्गुर्वादिबाह्यनिमित्तात् । **यतः** प्राप्तात् तत्पदान्नावर्तते संसारे **पुनर्न** भ्रमति ॥ ९९ ॥

अब उक्त अर्थका उपसंहार करके फल दिखाते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( इति ) उक्त प्रकारसे ( इदं ) भेद-अभेदरूप आत्मस्वरूपकी ( नित्यं ) निरन्तर ( भावयेत् ) भावना करनी चाहिए। ऐसा करनेसे ( तत् ) उस ( अवाचांगोचरं पदं ) अनिर्वचनीय परमात्म पदको ( स्वत एव ) स्वयं ही यह जीव ( आप्नोति ) प्राप्त होता है ( यतः ) जिस पदसे ( पुनः ) फिर ( न आवर्तते ) लौटना नहीं होता है—पुनर्जन्म लेकर संसारमें भ्रमण करना नहीं पड़ता है।

**भावार्थ**—आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिए आत्मस्वरूपके पूर्ण विकासको प्राप्त हुए अर्हन्त और सिद्ध परमात्माका हमें निरन्तर ध्यान करना चाहिये—तद्रूप होनेकी भावनामें रत रहना चाहिये—अथवा अपने आत्माको आत्मस्वरूपमें स्थिर करनेका दृढ़ अभ्यास करना चाहिये। ऐसा होने पर ही उस वचन-अगोचर अतीन्द्रिय परमात्मपदकी प्राप्ति हो सकेगा, जिसे प्राप्त करके फिर इस जीवको दूसरा जन्म लेकर संसारमें भटकना नहीं पड़ता—वह सदाके लिए अपने ज्ञानानन्दमें मग्न रहता है और सब प्रकारके दुःखोंसे छूट जाता है ॥ ९९ ॥

नन्वात्मनि सिद्धे तस्य तत्पदप्राप्तिः स्यात् । न चासौ तत्त्वचतुष्टयात्मकाच्छरीरात्तत्त्वान्तरभूतः सिद्ध इति चार्वाकाः । सदैवात्मा मुक्तः सर्वदा स्वरूपोपलम्भसम्भवादिति सांख्यास्तान् प्रत्याह—

**अयत्नसाध्यं निर्वाणं चित्तत्त्वं भूतजं यदि ।**
**अन्यथा योगतस्तस्मान्न दुःखं योगिनां क्वचित् ॥१००॥**

**टीका—चित्तत्त्वं** चेतनालक्षणं तत्त्वं **यदि भूतजं** पृथिव्यप्तेजोवायुलक्षणभूतेभ्यो जातं यद्यभ्युपगम्यते तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन तात्पर्येण साध्यं निर्वाणं न भवति । एतच्छरीरपरित्यागेन विशिष्टावस्थाप्राप्तियोग्यस्यात्मन एव तन्मते अभावादित्यात्मनो मरणरूपविनाशादुत्तरकालमभावः । सांख्यमते तु भूतजं सहजं भवनं भूतं शुद्धात्मतत्त्वं तत्र जातं तत्स्वरूप संवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं यत्नेन ध्यानानुष्ठानादिना साध्यं न भवति निर्वाणं । सदा शुद्धात्मस्वरूपानुभवे सर्वदैवात्मनो निरुपायमुक्तिप्रसिद्धेः अथवा निष्पन्नेतरयोग्यपेक्षया अयत्नेत्यादिवचनम् । तत्र निष्पन्नयोग्यपेक्षया चित्तत्त्वं भूतजं स्वभावजं । भूतशब्दोऽत्र स्वभाववाची । मनोवाक्कायेन्द्रियैरविक्षिप्तमात्मस्वरूपं भूतं तस्मिन् जातं तत्स्वरूपसंवेदकत्वेन लब्धात्मलाभं एवंविधं चित्तत्त्वं यदि तदाऽयत्नसाध्यं निर्वाणं तथाविधमात्मस्वरूपमनुभवतः कर्मबंधाभावतो निर्वाणस्याप्रयाससिद्धत्वात् । अथवा **अन्यथा** प्रारब्धयोग्यपेक्षया भूतजं चित्तत्त्वं न भवति । तदा **योगतः** स्वरूपसंवेदनात्मकचित्तवृत्तिनिरोधाभ्यासप्रकर्षान्निर्वाणं । यत एवं **तस्मात् क्वचिदप्यवस्थाविशेषे** दुर्धरानुष्ठाने छेदनभेदनादौ वा **योगिनां दुःखं न** भवति । आनन्दात्मकस्वरूपसंवित्तौ तेषां तदुद्भवदुःखसंवेदनासम्भवात् ॥ १०० ॥

यह आत्मा पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार तत्त्वरूप जो शरीर है उससे भिन्न किसी दूसरे तत्त्वरूप सिद्ध नहीं होता है, ऐसा चार्वाक मत वाले मानते हैं, तथा आत्माके सदा स्वरूपकी उपलब्धि संवेदना बनी रहनेसे वह सदा ही मुक्त है, ऐसा सांख्य लोगोंका मत है, इन दोनोंको लक्ष करके उनके प्रति आचार्य कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( चित्तत्त्वम् ) चेतना लक्षणवाला यह जीव तत्त्व ( यदि भूतजं ) यदि भूतज है—चार्वाकमतके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप भूतचतुष्टयसे उत्पन्न हुआ है अथवा सांख्यमतके अनुसार सहज शुद्धात्मस्वरूपसे उत्पन्न है—उस शुद्धात्मस्वरूपके संवेदना द्वारा लब्धात्मरूप है, तो ( निर्वाणं ) मोक्ष ( अयत्नसाध्यं ) यत्नसे सिद्ध होने वाला नहीं रहेगा। अर्थात् चार्वाकमतकी अपेक्षा, जो कि शरीरके छूट जानेपर आत्मामें किसी विशिष्टावस्थाकी प्राप्तिका अभाव बतलाता है, मरणरूप

शरीरका विनाश होनेसे आत्माका अभाव हो जायगा और यही अभाव बिना यत्नका निर्वाण होगा, जो इष्ट नहीं हो सकता। और सांख्यमतकी अपेक्षा स्वभावसे ही सदा शुद्धात्मस्वरूपका लाभ मान लेनेसे मोक्षके लिये ध्यानादिक कोई उपाय करनेकी भी आवश्यकता नहीं रहेगी, और इस तरह निरुपाय मुक्तिकी प्रसिद्धि होनेसे बिना यत्नके ही निर्वाण होना ठहरेगा जो उस मतके अनुयायियोंको भी इष्ट नहीं है। (अन्यथा) यदि चैतन्य आत्मा भूतचतुष्टयजन्य तथा सदा शुद्धात्मस्वरूपका अनुभव करने वाला नित्यमुक्त नहीं है। तो फिर (योगत:) योगसे स्वरूप संवेदना-चित्तवृत्तिके निरोधका दृढ़ अभ्यास करनेसे ही निर्वाणकी प्राप्ति होगी (तस्मात्) चूंकि वस्तुतत्त्वकी ऐसी स्थिति है इसलिये (योगिनां) निर्वाणके लिये प्रयत्नशील योगियोंको (क्वचित्) किसीभी अवस्थामें–दुर्द्धरानुष्ठानके करने तथा छेदन-भेदनादिरूप उपसर्गके उपस्थित होनेपर–(दुःखं न) कोई दुःख नहीं होता है।

**भावार्थ**—आत्मतत्त्व यद्यपि चेतनामय नित्य पदार्थ है परंतु अनादि-कर्मपुद्गलोंके सम्बन्धसे विभावपरिणतिरूप परिणम रहा है और अपने स्वरूपमें स्थिर नहीं है। ध्यानादि सत्प्रयत्न द्वारा उस परिणतिका दूर होना ही स्वरूपमें स्थिर होना है और उसीका नाम निर्वाण है। चार्वाक-की कल्पानुसार यह जीवात्मा भूतचतुष्टजन्य नहीं है। भूतचतुष्टयजन्य अनित्य शरीरका आत्मा मानना भ्रम तथा मिथ्या है और ऐसा माननेसे शरीरका नाश होनेपर आत्माका स्वतः अभाव हो जाना ही निर्वाण ठहरेगा, जो किसी तरह भी इष्ट नहीं हो सकता। ऐसा कौन बुद्धिमान है जो स्वयं ही अपने नाशका प्रयत्न करे? इसी तरह सांख्यमतकी कल्पनाके अनुसार आत्मा सदा ही शुद्ध-बुद्ध तथा स्वरूपोपलब्धिको लिये हुए नित्य मुक्तस्वरूप भी नहीं है। ऐसा माननेपर निर्वाणके लिये ध्यानादि-के अनुष्ठानका कोई प्रयोजन तथा विधान नहीं बन सकेगा। सांख्यमतमें निर्वाणके लिये ध्यानादिक विधान है और इसलिए सदा शुद्धात्मस्वरूपकी उपलब्धिरूप मुक्तिकी वह कल्पना निःसार जान पड़ती है। जब ये दोनों कल्पनाएँ ठीक नहीं हैं तब जैनमतकी उक्त मान्यताको मानना ही ठीक होगा, और उसके अनुसार योग साधनाद्वारा स्वरूपसंवेदनात्मक चित्त-वृत्तिके निरोधका दृढ़ अभ्यास करके सकल विभावपरिणतिको हटाते हुए शुद्धात्मस्वरूपमें स्थितिरूप निर्वाणका होना बन सकेगा। इस आत्मसिद्धि-के सुदुद्देश्यको लेकर जो योगीजन योगाभ्यासमें प्रवृत्त होते हैं वे स्वेच्छा-से अनेक दुर्द्धर तपश्चरणोंका अनुष्ठान करते हुए खेदखिन्न नहीं होते

और न दूसरोंके किये हुए अथवा स्वयं बन आए हुए उपसर्गोंपर दुःख ही मानते हैं—ऐसी घटनाओंके घटनेपर वे बराबर अपने साम्यभावको स्थिर रखते हैं ॥ १०० ॥

नन्वात्मना मरणरूपविनाशादुत्तरकालेऽभावसिद्धेः कथं सर्वदाऽस्तित्वं सिध्येदिति वदन्तं प्रत्याह—

**स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि न नाशोऽस्ति यथात्मनः ।**
**तथा जागरदृष्टेऽपि विपर्यासाविशेषतः ॥१०१॥**

**टीका—स्वप्ने** स्वप्नावस्थायां **दृष्टे विनष्टेऽपि** शरीरादौ **आत्मनो यथा नाशो नास्ति तथा जागरदृष्टेऽपि** जागरे जाग्रदवस्थायां दृष्टे विनष्टेऽपि शरीरादौ आत्मनो नाशो नास्ति । ननु स्वप्नावस्थायां भ्रांतिवशादात्मनो विनाशः प्रतिभातीति चेत्तदेतदन्यत्रापि समानं । न खलु शरीरविनाशे आत्मनो विनाशमभ्रांतो मन्यते । तस्मादुभयत्राप्यात्मनो विनाशोऽनुपपन्नो **विपर्यासाविशेषात्** । यथैव हि स्वप्नावस्थायामविद्यमानेऽप्यात्मनो विनाशे विनाशः प्रतिभासत इति विपर्यासः तथा जाग्रदवस्थायामपि ॥ १०१ ॥

यदि कोई कहे कि मरणस्वरूप विनाशके समुपस्थित होनेपर उत्तरकालमें आत्माका सदा अस्तित्व कैसे बन सकता है ? ऐसा कहने वालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( स्वप्ने ) स्वप्नकी अवस्थामें ( दृष्टे विनष्टे अपि ) प्रत्यक्ष देखे जानेवाले शरीरादिक विनाश होनेपर भी ( यथा ) जिस प्रकार ( आत्मनः ) आत्माका ( नाशः न अस्ति ) नाश नहीं होता है ( तथा ) उसी प्रकार ( जागरदृष्टे अपि ) जाग्रत अवस्थामें भी दृष्ट शरीरादिकका विनाश होने पर आत्माका नाश नहीं होता है । ( विपर्यासाविशेषतः ) क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें जो विपरीत प्रतिभास होता है उसमें परस्पर कोई भेद नहीं है ।

**भावार्थ**—आत्मा वास्तवमें सत् पदार्थ है और सत्का कभी नाश नहीं होता—पर्यायें जरूर पलटा करती हैं । स्वप्नमें शरीरका नाश होनेपर जिस प्रकार आत्माके नाशका भ्रम हो जाता है किन्तु आत्माका नाश नहीं होता उसी प्रकार जाग्रत अवस्थामें भी शरीर पर्यायके विनाशसे जो आत्माका विनाश समझ लिया जाता है वह भ्रम ही है—दोनों ही अवस्थाओंमें होने वाले भ्रम समान हैं—एकको भ्रम मानना और दूसरेको भ्रम माननेसे इनकार करना ठीक नहीं है । वस्तुतः झोंपड़ीके जलने पर

जैसे तद्गत आकाश नहीं जलता वैसे ही शरीरके नष्ट होने पर आत्मा भी नष्ट नहीं होता है। आत्मा एक अखंड और अविनाशी पदार्थ है उसके खण्ड तथा विनाशकी कल्पना करना ही नितान्त मिथ्या है ॥ १०१ ॥

नन्वेवं प्रसिद्धस्याप्यनाद्यनिधनस्यात्मनो मुक्त्यर्थं दुर्धरानुष्ठानक्लेशो व्यर्थो ज्ञानभावनामात्रेणैव मुक्तिसिद्धेरित्याशङ्क्याह—

**अदुःखभावितं ज्ञानं क्षीयते दुःखसन्निधौ ।**
**तस्माद्यथाबलं दुःखैरात्मानं भावयेन्मुनिः ॥१०२॥**

**टीका**—अदुःखेन कायक्लेशादिकष्टं विना सुकुमारोपक्रमेण भावितमेकाग्रतया चेतसि पुनः पुनः संचिन्तितं ज्ञानं शरीरादिभ्यो भेदेनात्मस्वरूपपरिज्ञानं क्षीयते अपकृष्यते । कस्मिन् ? दुःखसन्निधौ दुःखोपनिपाते सति । यत एवं तस्मात्कारणात् यथाबलं स्वशक्त्यनतिक्रमेण मुनिर्योगी आत्मानं दुःखैर्भावयेत् कायक्लेशादिकष्टैः सहाऽऽत्मस्वरूपं भावयेत् । कष्टसहो भवन् आत्मस्वरूपं चिन्तयेदित्यर्थः ॥ १०२ ॥

जब इस प्रकार आत्मा अनादि निधन प्रसिद्ध है तो उसकी मुक्तिके लिये दुर्द्धर तपश्चरणादिके द्वारा कष्ट उठाना व्यर्थ है; क्योंकि मात्र ज्ञानभावनासे ही मुक्तिकी सिद्धि होती है, ऐसी आशंका करनेवालोंके प्रति आचार्य कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( अदुःखभावितं ज्ञानं ) जो भेदविज्ञान दुःखोंकी भावनासे रहित है—उपार्जनके लिये कुछ कष्ट उठाये बिना ही सहज सुकुमार उपाय-द्वारा बन आता है—वह ( दुःखसन्निधौ ) परिषह-उपसर्गादिक दुःखोंके उपस्थित होने पर ( क्षीयते ) नष्ट हो जाता है। ( तस्मात् ) इसलिए ( मुनिः ) अन्तरात्मा योगीको ( यथाबलं ) अपनी शक्तिके अनुसार ( दुःखैः ) दुःखोंके साथ ( आत्मानं भावयेत् ) आत्माकी शरीरादि-भिन्न भावना करनी चाहिये।

**भावार्थ**—जबतक योगी कायक्लेशादि तपश्चरणोंका अभ्यास करके कष्टसहिष्णु नहीं होता तबतक उसका ज्ञानाभ्यास शरीरसे भिन्न आत्माका अनुभवन—भी स्थिर रहनेवाला नहीं होता। वह दुःखोंके आजानेपर विचलित हो जाता है और सारा भेद-विज्ञान भूल जाता है। इसलिये

१. सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि ।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥ ६२ ॥
—मोक्षप्राभृते, कुन्दकुन्दः ।

ज्ञानभावनाके साथ कष्ट-सहनका अभ्यास होना चाहिये, जिससे उपार्जन किया हुआ ज्ञान नष्ट न होने पावे ॥ १०२ ॥

ननु यद्यात्मा शरीरात्सर्वथा भिन्नस्तदा कथमात्मनि चलति नियमेन तच्चलेत् तिष्ठति नियमेन तत् तिष्ठेदिति वदन्तं प्रत्याह—

**प्रयत्नादात्मनो वायुरिच्छाद्वेषप्रवर्तितात् ।**
**वायोः शरीरयंत्राणि वर्तन्ते स्वेषु कर्मसु ॥१०३॥**

**टीका—आत्मनः** सम्बन्धिनः **प्रयत्नाद्वायुः** शरीरे समुच्चलति कथम्भूतात् प्रयत्नात् ? **इच्छाद्वेषप्रवर्तितात्** रागद्वेषाभ्यां जनितात् । तत्र समुच्चलिताच्च **वायोः शरीरयंत्राणि** शरीराण्येव यंत्राणि शरीरयंत्राणि । किं पुनः शरीराणां यंत्रैः -साधर्म्यं यस्तानि यन्त्राणीत्युच्यन्ते ? इति चेत् उच्यते—यथा यंत्राणि काष्ठादि-विनिर्मितसिंहव्याघ्रादीनि स्वसाध्यविविधक्रियायां परप्रेरितानि प्रवर्तन्ते तथा शरीराण्यपीत्युभयोस्तुल्यता । तानि शरीरयंत्राणि वायोः सकाशाद्वर्तन्ते । केषु ? **कर्मसु** क्रियासु कथम्भूतेषु ? **स्वेषु** स्वसाध्येषु ॥ १०३ ॥

यदि आत्मा शरीरसे सर्वथा भिन्न है तो फिर आत्माके ठहरने पर शरीर कैसे ठहरता है ? ऐसा पूछनेवालेके प्रति कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( आत्मनः ) आत्माके ( इच्छाद्वेषप्रवर्तितात् प्रयत्नात् ) और द्वेषकी प्रवृत्तिसे होनेवाले प्रयत्नसे ( वायुः ) वायु उत्पन्न होती है—वायुका संचार होता है ( वायोः ) वायुके संचारसे ( शरीरयंत्राणि ) शरीररूपी यंत्र ( स्वेषु कर्मसु ) अपने-अपने कार्य करनेमें ( वर्तन्ते ) प्रवृत्त होते हैं ।

**भावार्थ**—पूर्वबद्ध कर्मोंके उदयसे आत्मामें राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, राग-द्वेषकी उत्पत्तिसे मन-वचन-कायकी क्रियारूप जो प्रयत्न उत्पन्न होता है, उससे आत्माके प्रदेश चंचल होते हैं, आत्म-प्रदेशोंकी चंचलतासे शरीरके भीतरकी वायु चलती है और उस वायुके चलनेसे शरीररूपी यंत्र अपना अपना कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं । यदि कोई कहे कि शरीरोंकी यंत्रोंके साथ क्या कोई समान-धर्मता है जिसके कारण उन्हें यंत्र कहा जाता है तो इसके उत्तरमें इतना ही जान लेना चाहिये कि काष्ठादिके बनाये हुए हाथी, घोड़े आदिरूप कलदार खिलौने जिस प्रकार दूसरोंकी प्रेरणाको पाकर हिलने-चलने लग जाते हैं—अर्थात् अपनेसे किये जाने योग्य नाना प्रकारकी क्रियाओंमें प्रवृत्त होते हैं, उसी प्रकार शरीरके अंग-उपांग भी वायुकी प्रेरणासे अपने योग्य कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होते हैं । दोनों ही इस विषयमें समान हैं ॥ १०३ ॥

तेषां शरीरयंत्राणामात्मन्यारोपाऽनारोपौ कृत्वा जड़विवेकिनौ किं कुरुत इत्याह—

**तान्यात्मनि समारोप्य साक्षाण्यास्तेऽसुखं जडः ।**
**त्यक्त्वाऽरोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम् ॥१०४॥**

टीका—तानि शरीरयंत्राणि साक्षाणि इंद्रियसहितानि आत्मनि समारोप्य गौरोऽहं सुलोचनोऽहं स्थूलोऽहमित्याद्यभेदरूपतया आत्मन्यध्यारोप्य जडो बहिरात्मा असुखं सुखं वा यथा भवत्येवमास्ते । विद्वानन्तरात्मा पुनः प्राप्नोति किं ? तत्परमं पदं मोक्षं । किं कृत्वा ? त्यक्त्वा ? कं ? आरोपं शरीरादीनामात्मन्यध्यवसायम् ॥ १०४ ॥

उन शरीर-यंत्रोंकी आत्मामें आरोपना-अनारोपना करके जड़-विवेकी जीव क्या करते हैं, उसे बतलाते हैं—

**अन्वयार्थ**—( जड़ ) मूर्ख बहिरात्मा ( साक्षाणि ) इन्द्रियोंसहित ( तानि ) उन औदारिकादि शरीरयन्त्रोंको ( आत्मनि समारोप्य ) आत्मामें आरोपण करके—मैं गोरा हूँ, मैं सुलोचन हूँ इत्यादि रूपसे उनके आत्मत्वकी कल्पना करके—( असुखं आस्ते ) दुःख भोगता रहता है ( पुनः ) किन्तु ( विद्वान् ) ज्ञानी अन्तरात्मा ( आरोपं त्यक्त्वा ) शरीरादिकमें आत्माकी कल्पनाको छोड़कर ( परमं पदं ) परमपदरूप मोक्षको ( प्राप्नोति ) प्राप्त कर लेता है ।

**भावार्थ**—मूढ़ बहिरात्मा कर्मप्रेरित शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको अपने आत्माकी ही क्रियायें समझता है और इस तरह भ्रममें पड़कर विषय कषायोंके जालमें फँसता हुआ अपनेको दुःखी बनाता है । प्रत्युत इसके, विवेकी अंतरात्मा ऐसा न करके शरीर और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको आत्मासे भिन्न अनुभव करता है और इस तरह विषय-कषायोंके जालमें फँसकर बन्धनसे छूटता हुआ परमात्मपदको प्राप्त करके सदाके लिये परमानन्दमय हो जाता है ॥ १०४ ॥

कथमसौ तं त्यजतीत्याह—अथवा स्वकृतग्रन्थार्थमुपसंहृत्य फलमुपदर्शयन्नुक्त्वेत्याह—

**मुक्त्वा परत्र परबुद्धिमहंधियं च,**
**संसारदुःखजननीं जननाद्विमुक्तः ।**
**ज्योतिर्मयं सुखमुपैति परात्मनिष्ठ-**
**स्तन्मार्गमेतदधिगम्य समाधितंत्रम् ॥१०५॥**

**टीका**—**उपैति** प्राप्नोति । किं तत् ? **सुखं** कथम्भूतं ? **ज्योतिर्मयं** ज्ञानात्मकं । किं विशिष्टः सन्नसौ तदुपैति ? **जननाद्विमुक्तः** संसाराद्विशेषेण मुक्तः । ततो मुक्तोऽप्यसौ कथम्भूतः सम्भवति ? **परमात्मनिष्ठः** परमात्मस्वरूपसंवेदकः किं कृत्वाऽसौ तन्निष्ठः स्यात् ? **मुक्त्वा** । कां ? **परबुद्धि अहंधियं च** स्वात्मबुद्धि च । क्व ? **परत्र शरीरादौ** । कथम्भूतां ताम् ? **संसारदुःखजननीं** चातुर्गतिकदुःखोत्पत्तिहेतुभूतां । यतस्तथाभूतां तां त्यजेत् । किं कृत्वा ? **अधिगम्य** । किं तत् ? समाधितंत्रं समाधेः परमात्मस्वरूपसंवेदनैकाग्रतायाः परमोदासीनताया वा तन्त्रं प्रतिपादकं शास्त्रं । कथम्भूतं तत् ? **तन्मार्गं** तस्य ज्योतिर्मयसुखस्य मार्गमुपायमिति ॥१०५॥

आत्मा उस आरोपको कैसे छोड़ता है उसे बतलाते हैं—अथवा श्री पूज्यपाद आचार्य अपने ग्रन्थका उपसंहार करके फल प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—

**अन्वयार्थ**—( तन्मार्गं ) उस परमपदकी प्राप्तिका उपाय बतलाने वाले ( एतत् समाधितंत्रम् ) इस समाधितंत्रको—परमात्मस्वरूप संवेदनकी एकाग्रताको लिए हुए जो समाधि उसके प्रतिपादक इस 'समाधितन्त्र' नामक शास्त्रको ( अधिगम्य ) भले प्रकार अनुभव करके (परात्मनिष्ठः ) परमात्माकी भावनामें स्थिर चित्त हुआ अन्तरात्मा ( संसारदुःखजननीं ) चतुर्गतिरूप संसारके दुःखोंको उत्पन्न करनेवाली ( परत्र ) शरीरादिपरपदार्थोंमें ( अहं धियं परबुद्धिं च ) जो स्वात्मबुद्धि तथा परात्मबुद्धि है उसको ( मुक्त्वा ) छोड़कर ( जननाद्विमुक्तः ) संसारसे मुक्त होता हुआ ( ज्योतिर्मयं सुखं ) ज्ञानात्मक सुखको ( उपैति ) प्राप्त कर लेता है ।

**भावार्थ**—इस पद्यमें, ग्रन्थके विषयका उपसंहार करते हुए श्री पूज्यपाद आचार्यने उस बुद्धिको संसारके समस्त दुःखोंकी जननी बतलाया है, जो शरीरादि परपदार्थोंमें स्वात्मा-परात्माका आरोप किए हुए है—अर्थात् अपने शरीरादिको अपना आत्मा और परके शरीरादिको परका आत्मा समझती है । ऐसी दुःखमूलक बुद्धिका परित्याग कर जो जीवात्मा परमात्मामें निष्ठावान होता है—परमात्माके स्वरूपको अपना स्वरूप समझकर उसके आराधनमें तत्पर एवं सावधान होता है—वह संसारके बन्धनोंसे छूटता हुआ केवलज्ञानमय परम सुखको प्राप्त होता है । साथ ही, यह भी बतलाया है कि यह 'समाधितंत्र' ग्रन्थ उक्त परमसुख अथवा परमपदकी प्राप्तिका मार्ग है—उपाय प्रदर्शित करने वाला है । इसको भले प्रकार अध्ययन तथा अनुभव करके जीवनमें उतारनेसे

वह प्राप्ति सुखसाध्य हो जाती है और इस तरह इस ग्रन्थकी भारी उपयोगिताको प्रदर्शित किया है ॥ १०५ ॥

टीका-प्रशस्ति

येनात्मना बहिरन्तरुत्तमभिदा त्रेधा विवृत्योदितो,
मोक्षोऽनन्तचतुष्टयामलवपुः सद्ध्यानतः कीर्तितः ।
जीयात्सोऽत्र जिनः समस्तविषयः श्रीपूज्यपादोऽमलो,
भव्यानन्दकरः समाधिशतकश्रीमत्प्रभेन्दुः प्रभुः ॥१॥

इति श्रीपण्डितप्रभाचन्द्र विरचिता समाधिशतकटीका समाप्ता[1]

## अंतिम मङ्गल-कामना

जिनके भक्ति-प्रसादसे, पूर्ण हुआ व्याख्यान ।
सबके उर मंदिर बसो, पूज्यपाद भगवान ॥ १ ॥
पढ़ें सुनें सब ग्रन्थ यह, सेवें अति हित मान ।
आत्म-समुन्नति-बीज जो, करो जगत कल्यान ॥ २ ॥

---

१. मूडबिद्री के मठ की प्रतिमें उक्त पुष्पिका-वाक्य निम्न-प्रकार पाया जाता है :—'इति श्रीजयसिंहदेव राज्ये श्रीमद्धारा निवासिना परापर परमेष्ठि-प्रणामोपार्जितामलपुण्यनिराकृताखिलमलकलंकेन श्रीमत्प्रभाचन्द्र पण्डितेन समाधिशतकटीका कृतेति ।।" इस वाक्य से प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि न्याय-ग्रन्थोंके कर्ता धारानिवासी प्रभाचन्द्र ही जान पड़ते हैं ।

# पद्यानुक्रमसूची


अ

अचेतनमिदं दृश्य- ४६
अज्ञापितं न जानन्ति ५८
अदुःखभावितं ज्ञानं १०२
अनन्तरज्ञः संधत्ते ९१
अपमानादयस्तस्य ३८
अपुण्यमव्रतैः पुण्यं ८३
अयत्नसाध्यं निर्वाणं १००
अविक्षिप्तं मनस्तत्त्वं ३६
अविद्याभ्याससंस्कारैः ३७
अविद्यासंज्ञितस्तस्मात् १२
अव्रतानि परित्यज्य ८४
अव्रती व्रतमादाय ८६

आ

आत्मज्ञानात्परं कार्यं ५०
आत्मदेहान्तरज्ञान ३४
आत्मन्येवात्मधीरन्यां ७७
आत्मविभ्रमजं दुःखं ४१
आत्मानमन्तरे दृष्ट्वा ७९

इ

इतीदं भावयेन्नित्य- ९९

उ

उत्पन्नपुरुषभ्रान्ते २१
उपास्यात्मानमेवात्मा ९८

ए

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचं १७

क

क्षीयन्तेऽत्रैव रागाद्याः २५

ग

गौरः स्थूलः कृशो वाह- ७०
ग्रामोऽरण्यमिति द्वेधा ७३

घ

घने वस्त्रे यथात्मानं ६३

च

चिरं सुषुप्तास्तमसि ७२

ज

जगद्देहात्मदृष्टीनां ४९
जनेभ्यो वाक् ततः स्पन्दो ७२
जयन्ति यस्यावदतोऽपि २
जातिर्देहाश्रिता दृष्टा ८८
जातिलिङ्गविकल्पेन ८९
जानन्नप्यात्मनस्तत्त्वं ४५
जीर्णे वस्त्रे यथात्मानं ६४

त

तथैव भावयेद्देहाद् ८२
तद्ब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत् ५३
तान्यात्मनि समारोप्य १०४
त्यक्त्वैवं बहिरात्मान- २७
त्यागादाने बहिर्मूढः ४७

द

दृढात्मबुद्धिर्देहादा- ७६
दृश्यमानमिदं मूढ ४४
दृष्टिभेदो यथा दृष्टि ९२
देहान्तरगतेर्बीजं ७४
देहे स्वबुद्धिरात्मानं १३
देहे स्वात्मधिया जाताः १४

न

न जानन्ति शरीराणि ६१
न तदस्तीन्द्रियार्थेषु ५५
नयत्यात्मानमात्मैव ७५
नरदेहस्थमात्मान- ८
नष्टे वस्त्रे यथात्मानं ६५
नारकं नारकाङ्गस्थं ९
निर्मलः केवलः शुद्धो ६

प

परत्राहं मतिः स्वस्मा- ४३
पश्येन्निरन्तरं देह- ५७
पूर्वं दृष्टात्मतत्त्वस्य ८०
प्रच्याव्य विषयेभ्योऽहं ३२
प्रयत्नादात्मनो वायु- १०३
प्रविशद् गलतां व्यूहे ६९

ब

बहिरन्तः परश्चेति ४
बहिरात्मा शरीरादौ ५
बहिरात्मेन्द्रियद्वारैः ७
बहिस्तुष्यति मूढात्मा ६०

भ

भिन्नात्मानमुपास्यात्मा ९७

म

मत्तश्च्युत्वेन्द्रियद्वारैः १६
मामपश्यन्नयं लोको २६
मुक्तिरेकान्तिकी तस्य ७१
मुक्त्वा परत्र परबुद्धि- १०५
मूढात्मा यत्र विश्वस्त २९
मूलं संसारदुःखस्य १५

य

यत्त्यागाय निवर्तन्ते ९०
यत्परैः प्रतिपाद्योऽहं १९
यत्पश्यामीन्द्रियैस्तन्मे ५१
यत्रानाहितधीः पुंसः ९६
यत्रैवाहितधीः पुंसः ९५
यथासौ चेष्टते स्थाणौ २२
यदग्राह्यं न गृह्णाति २०
यदन्तर्जल्पसंपृक्त- ८५
यदभावे सुषुप्तोऽहं २४
यत्र काये मुनेः प्रेम ४०
यदा मोहात्प्रजायेते ३९
यद्बोधयितुमिच्छामि ५९
यन्मया दृश्यते रूपं १८
यस्य सस्पन्दमाभाति ६७
युञ्जीत मनसाऽऽत्मानं ४८
येनात्मनानुभूयेऽह- २१
येनात्माऽबुध्यतात्मैव १
यो न वेत्ति परं देहा- ३३
यः परात्मा स एवाहं ३१

र

रक्ते वस्त्रे यथात्मानं ६६
रागद्वेषादिकल्लोलैः ३५

ल

लिङ्गं देहाश्रितं दृष्टं ८७

व

विदिताशेषशास्त्रोऽपि ९४
व्यवहारे सुषुप्तो यः ७८

श

शरीरकंचुकेनात्मा ६८
शरीरे वाचि चात्मानं ५४
शुभं शरीरं दिव्यांश्च ४२
शृण्वन्नप्यन्यतः कामं ८१
श्रुतेन लिङ्गेन यथात्मशक्ति- ३

स

सर्वेन्द्रियाणि संयम्य ३०
सुखमारब्धयोगस्य ५२
सुप्तोन्मत्ताद्यवस्थैव ९३
सोऽहमित्यात्तसंस्कार २८
स्वदेहसदृशं दृष्ट्वा १०
स्वपराध्यवसायेन ११
स्वप्ने दृष्टे विनष्टेऽपि १०१
स्वबुद्ध्या यावद्गृह्णीयात् ६२